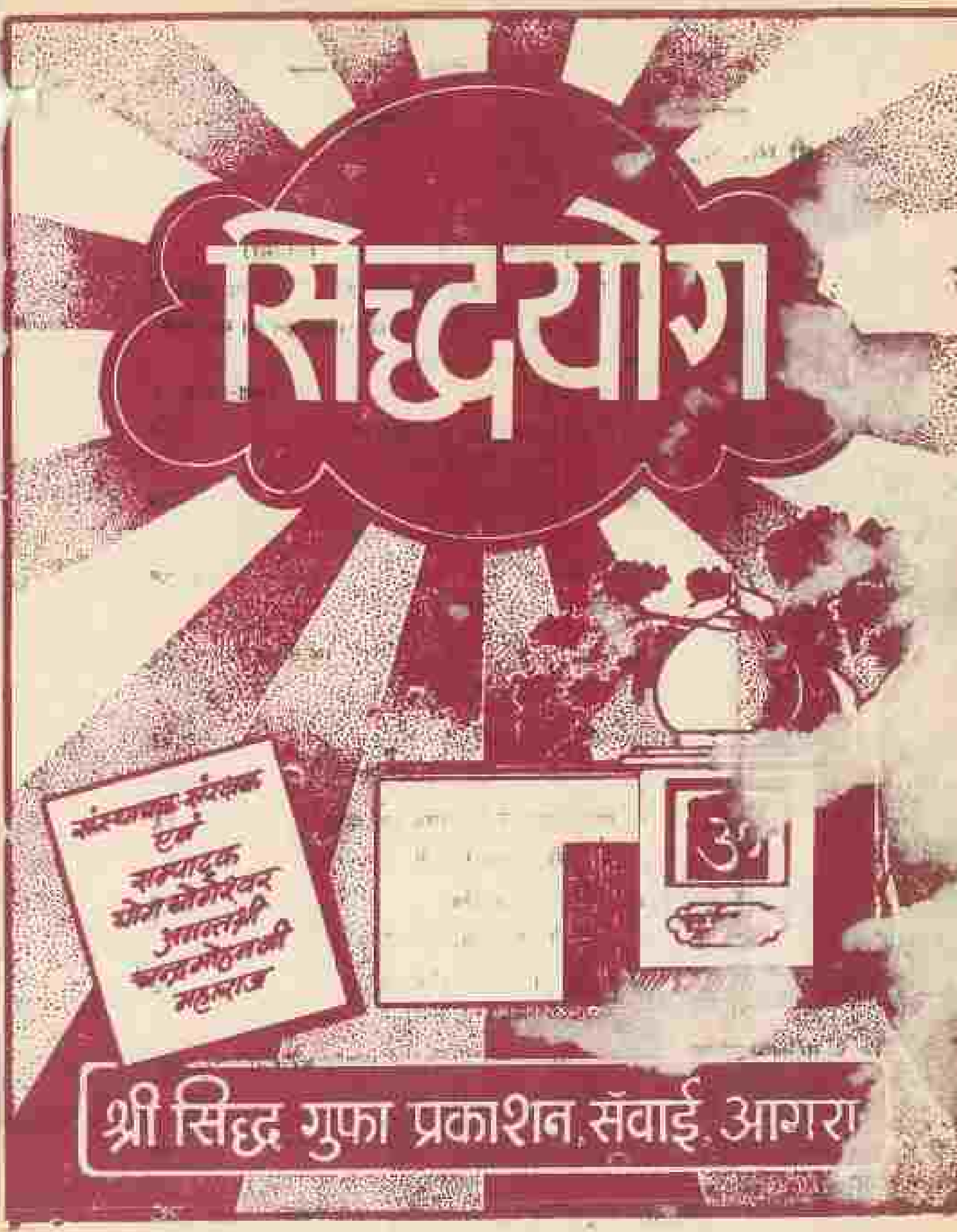

वर्ष १२] मई १९८६ [अङ्क २

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

इस अंक में—

- ❀ योगास्त्विमयं शरीरम् (प्रार्थना) १
- ❀ [illegible] और उसकी पांच अवस्थाएँ (विशेष लेख) २
  - श्री योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- ❀ [illegible] महामेला समाचार [illegible]
- ❀ [illegible] (पद्य-काव्य) [illegible]
- ❀ [illegible] नेश्वर जी महाराज [illegible]
  - श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी
- ❀ [illegible] धर्म और उसका [illegible] १०
  - श्री पं० गोपालदास जी दुबे
- ❀ गुरुदेव की वाणी २०
  - श्री डा० [illegible] शर्मा
- ❀ वन्दना (कविता) २१
  - श्री डा० हरिशंकर शर्मा
- ❀ स्वरोदय की महत्ता २१
  - श्री रामप्यारे जी अग्निहोत्री
- ❀ दीर्घ जीवन के अवरोधक कुछ दोष [illegible]
  - श्री विजयकार्तिकेय
- ❀ [illegible] और युवा शक्ति ३६
  - श्री मंगलदास, होशियारपुर
- ❀ गृहस्थ जीवन और योग-साधना ३६
  - श्री धर्मेन्द्रकुमार गौतम
- ❀ अलौकिक प्रभावकारी, श्री प्रभुजी का रक्षा प्रसाद ४१
  - श्री केशव उपाध्याय
- ❀ धर्म-पुण्य-फलांकोषम् ४७

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

मई १९८६

वार्षिक मूल्य २० रुपया। इस अङ्क का ५ रुपया

अवश्य आइये !   ॐ   अवश्य देखिये !

योग–साधन आश्रम ऋषिकेश का

वार्षिक योग महोत्सव

सभी भाई-बहिन को यह जानकर हर्ष होगा कि सुप्रसिद्ध योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक 'योग महोत्सव' ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी तदनुसार तारीख १५, १६ व १७ जून ८६ ई० रविवार, सोमवार व मंगलवार को मनाया जायगा।

सदा की भांति उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक और उपयोगी बनाने का आयोजन किया गया है। उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम रहेगा। आश्रम के ब्रह्मचारी यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे। सभी योग-प्रेमियों को इस समारोह में सम्मलित होकर लाभ उठाना चाहिए।

सभी गुरु भाई-बहिनों को श्री गुरुदेवजी की ओर से इस उत्सव के निमंत्रण पत्र भी भेजे जा रहे हैं। किन्तु कभी-कभी डाक की गड़बड़ी के कारण समय पर पहुँच नहीं पाते हैं अतः सभी भाई-बहिन इस सूचना को ही अपना आमंत्रण समझते हुए उत्सव में सम्मिलित हों।

नोट:—१७ जून मंगलवार गंगा दशहरा को नगर शोभा-यात्रा (जलूस) का आयोजन है जिसमें बैण्ड बाजे के साथ विविध झांकियों का आयोजन रहेगा। शोभा-यात्रा सायं ५ बजे योग-साधन आश्रम से प्रारम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के ११ बजे आश्रम वापिस पहुँचेगी। अतः सभी सत्संग प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा एवं समारोह में सम्मिलित होना चाहिए। आगन्तुकों को मौसम के अनुकूल अपने बिस्तर आदि अवश्य साथ लाना चाहिए।

मन्त्री—योग-साधन आश्रम
रेलवे रोड ऋषिकेश (उ०प्र०)

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (इलादपुर) आगरा।

वर्ष १६ अङ्क २	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥	मई १९८६

योगाग्निमयं शरीरम्

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते,
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

अर्थात्

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतों का सम्यक् प्रकार से उत्थान होने पर तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले पाँच प्रकार के यो। सम्बन्धी गुणों की सिद्धि हो जाने पर योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले उस साधक को न तो रोग होता है, न जरा अर्थात् बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।

सारांश यह है कि ध्यान योग का साधन करने वाले साधक का जब पाँचों भूतों पर अधिकार हो जाता है तो इन महाभूतों से सम्बन्ध रखने वाली पाँचों सिद्धियां उसे प्राप्त होने पर उसका शरीर योगाग्निमय होजाता है। फलस्वरूप उसे जरा मृत्यु आदि कोई भी दुःख विचलित नहीं कर पाता।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० २/१२

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी
महाराज

'चित्त की वृत्तियों का निरोध योग का स्वरूप है? कैसे और किस प्रकार यह निरोध सम्भव हो पाता है तथा चित्त और उसकी पांच अवस्थायें क्या हैं जिनमें उसका वृत्ति=व्यापार चलता रहता है।' यह अति आवश्यक और गम्भीर विषय श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने अपने इस विशेष लेख में विशेष रूप से समझाने का प्रयत्न किया है।

—सं० सं०

चित्त और उसकी पांच अवस्थाएँ

योग-साधना का मुख्य और अन्तिम लक्ष्य होता है समाधि-सिद्धि। और यह समाधि-सिद्धि जिन साधन-सोपानों पर आरूढ़ होकर योग का जिज्ञासु साधक प्राप्त किया करता है उनमें अति प्रमुख और आवश्यक साधन-सोपान होता है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना। भगवान पतञ्जलि ने इसी लिए अपने योग-दर्शन के समाधि-पाद के सूत्र संख्या २ का उल्लेख करके यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि बिना चित्त-वृत्तियों के निरोध के समाधि सिद्धि असम्भव ही रहती है। आचार्य प्रवर ने अपने योग-दर्शन का आरम्भ इसीलिए 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' के सूत्र से किया है। उनका यह सूत्र समाधि सिद्धि की आधार शिला ही कहा जा सकता है। जब तक आधार सुदृढ़ सशक्त और निर्दोष नहीं होता तब-तक उसके ऊपर बनाया जाने वाला भवन भी अपनी दृढ़ता और भव्यता को बनाये नहीं रह सकता। समाधि-सिद्धि रूपी भवन के निर्माण में भी यही सिद्धान्त लागू होता। योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी अपनी श्रीमद्भगवद्-गीता में किसी कार्य को विधिवत् पूर्णता के लिये में जिन पांच कारणों का सहायक होना अनिवार्य बताया है उनमें अधिष्ठान मानो आधार ही सबसे प्राथमिक और अनिवार्य कारण होता है। जैसाकि उन्होंने अर्जुन को समझाया है:—

अधिष्ठानं तथा कर्ता
करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा
दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

अर्थात् कर्ता का कौशल, उपकरणों की उपस्थिति

दूसरों का सहयोग और दैव की सहायता भी तभी फलदायक हो पाती है जबकि काम का आधार ठीक हो। यदि आधार ही गलत हो गया तो अन्य साधन भी लाभप्रद नहीं रहेंगे। आधार के सही न होने पर सारा मनोरथ,श्रम और दैव का सहयोग व्यर्थ चला जाता है।

यही दृष्टिकोण है भगवान पतञ्जलिदेव का। और इसीलिए उन्होंने योग-दर्शन के प्रथम पाद के आरम्भ में ही योग जिज्ञासु का ध्यान उस आधार अथवा अधिष्ठान की ओर दिलाया है जिस पर कि वह अपने समाधि-सिद्धि रूपी भवन का निर्माण करना चाहता है। चित्त ही इस भवन के निर्माण का मुख्य आधार होता है अतः महर्षि पतञ्जलि ने समाधि-पाद के प्रारम्भ में ही बड़ी स्पष्टता के साथ अपना सार्थक सूत्र दिया कि—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। यही प्रक्रिया यानी चित्त वृत्ति का निरोध योग जिज्ञासु को समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि कराने में प्रमुख रूपेण सहायक बना करती है सूत्रकार ने इसलिए इस सूत्र को योगदर्शन के पहले पाठके रूप में—साधकोंके सामने प्रस्तुत किया है। जो अपने चित्त के धरातल में निरन्तर प्रवाहित होते रहने वाली वृत्तियों को जो, प्रायः भौतिक सुखों की ओर ही दौड़ती रहती हैं उन्हें उस ओर से मोड़कर चित्-शक्ति की चिन्तन धारा की ओर मोड़देने की सामर्थ्य रखता है अथवा इस सामर्थ्य को हासिल करने की कला जानता है वह निश्चय ही समाधि के परमानन्द की प्राप्ति का सहज अधिकारी हो जाता है। जब तक साधक चित्त-वृत्तियों के बहिर्मुखी प्रवाह को अन्तर्मुखता की ओर प्रवाहित कर देने का सहज अभ्यासी नहीं बन जाता—तब तक वह समाधि के प्रासाद में प्रवेश न पाकर जगत् के कण्टकाकीर्ण जंगल में ही भटकने की अपनी भूल को बार-बार दुहराता रहता है।

चित्त-वृत्ति निरोध की अपनी व्याख्या में महाराज भोज ने भी यही कहा है कि चित्त-वृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाकर प्रतिलोम रीति से अन्तर्लीन करना ही योग कहलाता है।

अतः चित्त-वृत्तियों के निरोध सम्बन्धी प्राथमिक पाठ पर योग पथ पर आरूढ़ होने वाले साधकों को अपना ध्यान मुख्य रूप से केन्द्रित करना चाहिए।

उन्हें सबसे पहले यह समझना चाहिए कि चित्त क्या है और वह किस प्रकार अपनी पंचविध अवस्थाओं में अपना वृत्ति-व्यापार चलाया करता है।

सांख्य में जिस अन्तःकरण को महत्तत्व अथवा बुद्धि तत्व के नाम से कहा गया है योग में उसी को चित्त नाम दिया गया है अर्थ ज्ञान के निश्चय कराने में साधन होने के अतिरिक्त बुद्धि तत्व का योग प्रक्रिया के

अनुसार एक विशिष्ट कार्य है अर्थ तत्व का चिन्तन। योग शास्त्र में अर्थ तत्व से मतलब है परमात्व तत्व का चिन्तन। और यह परमात्व चिन्तन होता है बुद्धि तत्व द्वारा। इसी कारण योग-दर्शन में बुद्धि तत्व को चित्त पद से अभिव्यक्त किया गया है। चिन्तन का प्रधान साधन होने के कारण इसे चित्त पद की संज्ञा देना सर्वथा उपयुक्त ही है।

वृत्ति का अर्थ होता है व्यापार। कर्ण, चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने अपने विषय, शब्द रूप आदि के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाना ही इन्द्रिय-व्यापार कहलाता है। इस इन्द्रिय व्यापार में अन्तःकरण चित्त भी जब संयुक्त हो जाता है तब वह बाह्य विषयों के ज्ञान का ग्रहीता हो जाता है और इस ग्राह्य विषय को वह अविलम्ब आत्मा को समर्पित कर देता है। बिना बाह्य करणों के सहयोग से चित्त का यह व्यापार सम्भव नहीं हो पाता। साधारण दशा में चित्त का यह व्यापार जगत और उसके पदार्थों के ज्ञान के लिए इन्द्रियों के सहयोग पर ही आधारित रहता है सद्गुरु के निर्देशन में साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है तबउसे बाह्य-ज्ञान के लिए इन्द्रिय-उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। इस दशा में बाह्य इन्द्रियों से वह बंधा नहीं रहता इन बाह्य इन्द्रियों के सहयोग बिना ही चित्त-अन्तःकरण द्वारा ही बाह्य विषयों का लाभ प्राप्त कर लेता है। लेकिन ऐसा होना तभी सम्भव हो पाता है जब साधक योगानुष्ठान के अनन्तर अपने चित्त को एकाग्र और निरुद्ध-अवस्था में लाकर खड़ा करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

एकाग्र और निरुद्ध अवस्था प्राप्त करने से पूर्व साधारण दशा में साधक का चित्त क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त-अवस्थाओं में अवस्थित रहा करता है। चित्त सदा ही वृत्तियों से अभिभूत रहा करता है। जब तक वृत्ति निरोध की अवस्था प्राप्त नहीं कर लेता तबतक प्रभु-स्मरण और चिन्तन की अविरल ध्यान-धारा में जुड़ जाने की क्षमता नहीं प्राप्त कर पाता। इसीलिए चित्त वृत्ति निरोध का प्रबल प्रयास साधक को करना ही होगा। क्योंकि वृत्तियों निरोध हो जाने पर मनुष्य पापाचरण की ओर झुकेगा ही नहीं।

विषय को आगे बढ़ाने से पूर्व यहाँ हम चित्त की उन पांच अवस्थाओं का वर्णन स्पष्ट रूप से कर देना उचित समझते हैं जिनमें वह प्रायः रहा करता है। ये अवस्थायें हैं: (१) क्षिप्त (२) विक्षिप्त (३) मूढ़ (४) एकाग्र (५) निरुद्ध

क्षिप्त—जिस अवस्था में मनुष्य का चित्त ऐसा चञ्चल रहता है, जैसे वायु से दीपक अर्थात् किसी विषय में स्थिर नहीं होता उसे क्षिप्त अवस्था कहते हैं।

विक्षिप्त—अवस्था वह है जिस में चित्त विषयों के सुख का अनुभव करता है अर्थात्

जिस विषय की प्राप्ति के वास्ते प्रथम चित्त चंचल था उसको पाकर क्षणमात्र के लिए जो चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है उस ही को विक्षिप्त अवस्था कहते हैं।

मूढ़—जिस अवस्था में काम वा क्रोधादि के वश में हो के मनुष्य अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है उस तमोगुणाधिका भूमि को मूढ़ कहते हैं, कतिपय विद्वानों ने निद्रा को इस ही भूमिका में संयुक्त किया है परन्तु यह सर्वथा असंगत है क्योंकि निद्रा को प्रमाण आदि ५ वृत्तियों में भगवान सूत्रकार स्वयं आगे लिखेंगे। ज्ञात पड़ता है कि कतिपय विद्वान भूमिका और वृत्तियों के भेद को नहीं समझ पाये हैं अन्यथा कभी निद्रा को मूढ़ न लिखते। यदि निद्रा को मूढ़ भूमि के अन्तर्गत मानें तो विपर्यय और विकल्प को एकाग्र के अन्तर्गत मानना पड़ेगा एवं स्मृति का सर्वथा अभाव मानना है अतएव ऐसी मान्यता सर्वथा सही नहीं है।

× × × ×

एकाग्र—अवस्था वह है जिसमें चित्त किसी एक विषय में निश्चल जल या निर्वात दीपक के समान स्थिर हो जाता है, अथवा जिस भूमिका में रजोगुण और तमोगुण के साथ विनष्ट के समान हो जाय और सत्वगुण के साथ ही चित्त में सञ्चार करे उस भूमिका का नाम एकाग्र है यद्यपि रजोगुण आदि को ऐसी अवस्था को एकाग्र कह सकते हैं परन्तु रजोगुण में स्वयं स्थिर स्वभाव नहीं है अतएव तद्विशिष्ट भूमिका को एकाग्र नहीं कह सकते।

× × × ×

निरुद्ध—भूमिका वह है जिसमें चित्त निरालम्ब हो के ईश्वर के चिन्तन में अथवा योगसमाधि में लय रहता है।

चित्त की उपरोक्त पांच अवस्थाओं में से पहली तीन अवस्थायें साधक को समाधि-सिद्धि में विशेष सहायक नहीं रहतीं यद्यपि आंशिक रूप में वृत्तियों का निरोध इन अवस्थाओं में भी हो सकता है किन्तु बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों द्वारा चित्त निरन्तर सम्पर्क बने रहने से यह पूर्णरूप से व्युत्थान दशा है जिसे योग की प्रतिलोमी यानी उलट दशा ही कहा जाता है। इनमें तीसरी विक्षिप्त अवस्था उन जिज्ञासु साधकों में पुष्ट होती है जो अध्यात्म पथ पर चलने की भावना रखते हुए उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यद्यपि इस दशा में भी जब तब स्थिरता का भान होता है, पर विक्षेपों का बाहुल्य बना रहने से यह स्थिरता नगण्य कोटि में आ जाती है। आध्यात्मिक भावना वाला व्यक्ति यहां ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि के लिए उन्मुख और प्रयत्नशील बना रहता है—यही इस अवस्था की विशेषता रहती है।

योगानुष्ठान के अनन्तर साधक जिन दो अवस्थाओं को प्राप्त कर पाता है वे हैं एकाग्र और निरुद्धावस्था।

एकाग्र अवस्था—यहां चित्त में रजोगुण तमोगुण का आंशिक भी उद्रेक नहीं रहता। पूर्वानुभूत बाह्य विषयों के संस्कार अवश्य बने रहते हैं, वे आकस्मिकरूप से उद्बुद्ध होकर एकाग्र अवस्था में कभी विघ्न अवश्य उपस्थित करते रहते हैं। इस अवस्था में पहुंचे योगी के लिये आवश्यक है, वह प्रयत्नपूर्वक अभ्यास द्वारा चित्त की इस अवस्था को ऐसा बनाये रखने में सतर्क रहे, जिससे संस्कारों के उद्बुद्ध होने में वह साधन न बने। इस अवस्था में चित्त निश्चल व एकाग्र होकर स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम् तत्वों में प्रवेशकर उनके यथार्थ स्वरूप को साक्षात् करने में समर्थ हो जाता है। चित्त की इस अवस्था को प्रस्तुत शास्त्र में 'सम्प्रज्ञात योग' कहा जाता है। इसी को 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।

निरुद्ध-अवस्था—एकाग्र अथवा सम्प्रज्ञात समाधि की दशा में योगी आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात् कर लेता है। वह इस तथ्य को स्पष्टरूप में आन्तर प्रत्यक्ष से जान लेता है, कि प्राप्त विषयों के अनुरूप चित्त का परिणाम होता रहता है, परन्तु—ऐसा विषयाकार परिणाम चित्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने से उस विषय को आत्मा तक पहुँचाता है, चेतन होने से आत्मा उसका केवल अनुभव करता है; अपरिणामी होने के कारण उसमें विषयाकार परिणाम की होने सम्भावना नहीं। इस रूप में आत्मा और चित्त के भेद का सम्प्रज्ञात योगी को साक्षात् ज्ञान होजाता है, इसीका नाम 'विवेकख्याति' है। परन्तु यह अवस्था त्रिगुण का परिणाम होने से सुख-दुःख-मोहरूप है, इसलिए परित्याज्य है, एवं परिणामी होने से इसका अन्त हो जाता है, अर्थात् वह विवेकख्याति निरन्तर बनी नहीं रह सकती। आत्मतत्त्व निश्चित ही इसके विपरीत रहता है। ऐसा बोध होने पर योगी को उस विवेकख्याति की ओर से भी वैराग्य की भावना जागृत होती है, और उसके निरोध के लिये वह अग्रसर हो जाता। निरोध की अवस्था में पहुँचकर चित्त की ऐसी अवस्था हो जाती है, कि संस्कारों के विद्यमान रहते भी उनको उद्बुद्ध करने में वह अक्षम रहता है। यही चित्त की निरुद्ध अवस्था है।

चित्त की इन पांचों अवस्थाओं में एकाग्र और निरुद्ध अवस्था ही समाधि लाभ का संबल बनती हैं अतः इन्हें ही प्राप्त करने का अभ्यास साधक को करना चाहिए।

वैदिक साहित्य में भी शरीर को नौ द्वारों वाला वर्णन किया गया है। अथर्ववेद में "अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पुरयोध्या" आदि मन्त्र में यही वर्णन है कि यह शरीर आठ चक्र नव द्वार युक्त है साथ ही अयोध्या तथा देवताओं से युक्त भी बतलाया है। कबीर ने भी कहा है। इस शरीर के नौ दरवाजे, आदि

महाप्रभु जी की जयन्ती के उपलक्ष में—

सवाई आश्रम पर आयोजित योग महामेला

परम श्रद्धेय योगयोगेश्वर महाप्रभु अनन्त श्री रामलाल जी महाराज की जयन्ती का पावन समारोह सदा की भांति इस वर्ष भी उनकी साधनाभूमि श्री सिद्धगुफा आश्रम सवाई ग्राम पर कई हजार गुरु भाई-बहिनों की उपस्थिति में दिनाङ्क १६, १७ और १८ अप्रैल को बड़े ही उल्लास और उत्साह पूर्ण वातावरण में मनाया गया। इस त्रिदिवसीय समारोह की अध्यक्षता की प्रातः स्मरणीय गुरुदेव अनन्त श्रीचन्द्रमोहनजी महाराज ने की।

प्रथम दिन समारोह का शुभारम्भ महाप्रभु जी की सामूहिक आरती से हुआ। इसके पश्चात् गुरु-गीता का पाठ तथा उसकी सुन्दर और प्रेरक व्याख्या स्वयं श्री गुरुदेव भगवान के मुखारविन्द से सुनने का सौभाग्य श्रोताओं को मिला। दूसरे और तीसरे दिन की पूर्व वेला की कार्यवाही भी इसी क्रम और रूप में चलती रही। इसके पश्चात् सभा मण्डप में संगीत और आध्यात्मिक संकीर्तन का कार्यक्रम आश्रम की साध्वी बहिन संगीतरत्न उमा शर्मा और स्वर्गीया माता द्रौपदी देवी के अमृतसर-आश्रम से पधारी हुई बहन श्री शान्ती देवी के नियन्त्रण और उपस्थिति में चलाया जाता रहा। इस संगीत और संकीर्तन कार्यक्रम में झांसी मण्डल से पधारे हुए सुविख्यात कलाकारों ने भी अपना विशेष सहयोग प्रदान किया। आगरा के सुविख्यात भजनोपदेशक पं० भोजदत्त शर्मा और सवाई संकीर्तन मण्डल का योगदान भी उल्लेखनीय रहा। बहिन उमा शर्मा ने जिस तन्मयता से प्रभुजी की योग लीलाओं को संगीत बद्ध करके सुनाया उसकी विस्तृत व्याख्या श्री गुरुदेव जी अपने प्रवचनों द्वारा करके कथा-प्रसंगों को और भी अधिक रोचक और उपादेय बनाते रहे।

तीसरा दिन गुरु पूजन तथा महोत्सव के समापन का दिन होता है। दूर-दूर से आये हुए हजारों गुरु भाई-बहन श्रद्धा अपने आराध्यदेव का आरती एवं पूजन करके अपने को कृतार्थ करते हैं। यह दृश्य भी बड़ा ही हृदयग्राही और आकर्षक होता है। इसी दिन वेदपाठ ब्राह्मणों के सस्वर वेद पाठ के साथ विशाल सामूहिक-सहभोज का जिसे ब्रह्म-भोज भी कहा जाता है आयोजन रहता है। इस वर्ष भी यह आयोजन बड़ी ही धूमधाम से सात्विक वातावरण में सम्पन्न हुआ।

इसबार उल्लेखनीय जिन विशिष्ट महानुभावों ने बाहर से आकर भाग लिया उनमें केन्द्रीय सरकार के भू. पू. समाज कल्याण मंत्री तथा समाजवादी सुविख्यात नेता श्री राजनरायनजी, उत्तर प्रदेश के राज्य मंत्री श्रीरामनरेश शुक्ल तथा बनारस से पधारी पाणनीय संस्कृत बालिका महाविद्यालय की प्राचार्या परम

विदुषी बहन श्रीमती प्रज्ञादेवी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री राजनारायनजी समारोह के पहले दिन पधारे थे और उसी दिन सायं-काल कार द्वारा दिल्ली चले गये। इस भव्य सात्विक समारोह की उन्होंने और उनके साथियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुये कहा कि आश्रम के पवित्र वातावरण में आकर हमें जो शान्ति प्राप्त हुई है वह अनि-र्वचनीय है।

आचार्या प्रज्ञादेवी जी ने अपने विद्वत्ता पूर्ण भाषण में श्रीमद् वाल्मीकि रामायण के कई भावपूर्ण प्रसंगों का उल्लेख करते हुए भग-वान राम जैसे आदर्श चरित्र वाले युग-पुरुष के समूचे व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व में उतार लेने का आग्रह किया। उन्होंने कहा कि राम का समूचा जीवन वैदिक संस्कृति का प्रतीक रहा है। खेद है कि आज लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी हम उन की स्मृति में राम-जयन्ती के महोत्सव तो मनाते हैं किन्तु उनके उपदेश और उनके चरित्र की पावनता से अपने चरित्र को पावन करने का प्रयत्न नहीं करते। आपने अनेक प्रमाण से इस बात को सिद्ध किया कि अगर किसी को आदर्श पुत्र, आदर्श राजा, आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पत्नी और आदर्श सेवक की खोज हो तो रामायण कालीन-भारतीय वैदिक इतिहास का अनुशी-लन करना चाहिए। वाल्मीकि रामायण के पृष्ठों पर इन सभी आदर्श चरित्रों की गाथा आप स्पष्टतया अंकित पायेंगे।

डाक्टर प्रज्ञादेवी महोदया ने वेद और वैदिक संस्कृति के प्रति शिक्षित समाज की उदासी-नता पर भी गहरी चिन्ता व्यक्त करते हुए श्रोता समूह से अनुरोध किया कि यदि उन्हें वैदिक संस्कृति को जीवित रखना है तो हम को संस्कृत शिक्षा की ओर उन्मुख होना होगा। ऐसा होने पर ही हम संस्कृत साहित्य के उस रत्नाकर तक पहुँच पायेंगे, जिसके अन्त-स्तल पर खड़े होकर भारत ने विश्व-विजय की पताका फहराई थी। आपने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि हमारी अपनी शिक्षा प्रणाली ही ऐसी शिक्षा प्रणाली है जिसके माध्यम से मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कर सकता है।

डा० प्रज्ञादेवी के भाषण से पूर्व उनके विद्यालय की छात्राओं ने जो उनके साथ बना-रस से यहाँ आई थीं—मनोहर मधुर समूह-गान प्रस्तुत किये। तथा एक मेधावी छात्रा ने संस्कृत में प्रभावशाली भाषण दिया। संस्कृत में धारा प्रवाह भाषण देने वाली कुमारी का परिचय देते हुए आचार्या प्रज्ञादेवी जी ने बताया कि यह बालिका उनके विद्या-लय की छात्रा है तथा इस आश्रम की तपो-मूर्ति संगीत रत्न उमाअम्मा की छोटी बहन है।

✿✿

गद्य-काव्य —

मनोनाश

हे भगवान,

मुझे शब्दशक्ति का प्रसाद दो। शब्दशक्ति चिन्तन से परे है।

शब्दशक्ति से आत्मसाक्षात्कार होता है।

शब्दशक्ति से आत्मानात्म विवेक होता है और,

शब्दशक्ति से निश्चल ज्ञान प्राप्त होता है।

हे मोक्षदाता,

मुझे ज्ञाननिष्ठा के अभ्यास की शक्ति प्रदान करो। वासना के सम्पूर्ण नाश की मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करो।

देह-भावना को खत्म करो।

हे आत्मस्वरूप,

मुझे आत्मा के दर्शन कराओ। मुझे बन्धन मुक्त करो।

बन्धन और मोक्ष दोनों मन के कारण हैं।

मुझे मन से ऊपर उठाओ।

—०००००००—

आत्मप्रतीति

हे भगवान,

मुझ में आत्मचिन्तन का उत्कर्ष करो ताकि मेरे पूर्व के अच्छे-बुरे संस्कारों की गंध तक नष्ट हो जाय और निश्चिन्त करने वाली योगनिद्रा का प्रादुर्भाव हो।

हे जनार्दन,

मुझ में आत्मानात्म-प्रतीति का उत्कर्ष करो और स्वानुभूति और स्वोप-लब्धि का वरदान दो।

हे मधुसूदन,

मेरे वैराग्य को दृढ़ करो।
मेरा वैराग्य घर-बार धन दौलत आदि में
वासनाजन्य दुःख के कारण न हो,
ज्ञान के आविर्भाव से हो।

—श्री ओमप्रकाश मिश्रा

वैराग्य मूर्ति —

सन्त श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज

ले० श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

आचार्यों ने सम्पूर्ण जीवों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है। उनकी संज्ञायें ये है—नित्य, बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त। नित्य जीव कभी जन्मते-मरते नहीं हैं, वे सदा, सर्वदा एक रस ही रहे आते हैं। जैसे नारदादि ऋषि। बद्धजीव वे कहलाते हैं, जो संसार के अतिरिक्त और कुछ समझते ही नहीं, वे सदा संसारी लोगों के पीछे पागल हुए फिरते रहते हैं और इसी प्रकार चौरासी लक्ष योनियों में चक्कर लगाते रहते हैं। मुमुक्षु जीव वह कहलाता है, जो इस संसार की अनित्यता को अनुभव करके यथार्थ आनन्द की प्राप्ति की इच्छा से सद्गुरु की शरण में जाता है और वहाँ गुरु की सेवा में रहकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है। मुक्त जीव वे होते हैं जिन्हें कभी भी संसार का बन्धन नहीं व्यापता। वे अपनी इच्छा से शरीर धारण करके जगत् में आते हैं। संसार के त्रितापों से दुःखित प्राणियों को वे अपने सदुपदेशों द्वारा सुख और शान्ति के सच्चे मार्ग तक पहुँचाते हैं। उन्हें संसारी माया व्याप्त नहीं होती। वे सुख दुःख से परे हैं। राग-द्वेष उनके पास फटकता नहीं। वे शीतोष्ण आदि मात्राओं के परिणाम से विचलित नहीं होते। उनके लिए संसार में आकर न तो ज्ञानार्जन ही करना होता है और न वे शास्त्रों की ही ओर ताकते रहते हैं वे अज्ञानी उत्पन्न होकर ज्ञानी नहीं बनते, किन्तु उत्पन्न होने के पूर्व ही वे ज्ञानी होते हैं। बिना पढ़े ही वे शास्त्रों की गूढ़ से गूढ़ बातों को अपने आप ही बताने लगते हैं। संसार के व्यापारों में रत हुए बद्ध जीव उन्हें उस समय समझ नहीं सकते हैं। वे बेचारे समझें भी तो कैसे, उनकी आँखों पर तो अज्ञान की पट्टी बंधी हुई है, वे मोह की मदिरा का पान करने के कारण पागल हुये रहते हैं। नशे में चूर हुआ प्रमादी पुरुष भले बुरे की पहचान नहीं कर सकता, वह तो सभी को अपने जैसा ही समझता है। मुक्त जीवों को मान अपमान की परवाह नहीं रहती। उनकी चाहे कोई निन्दा करो अथवा स्तुति, उनके लिए दोनों समान हैं। वे कुछ समय तक संसार में अपना कार्य करके फिर अपने सत् स्वरूप में ही जाकर मिल जाते हैं। उनके पश्चात् विचारवानों की सहायता से लोग उन्हें समझते हैं और फिर उनके सदुपदेशों से अनन्तकाल तक लाभ उठाते हैं। ऐसे महापुरुष समय-समय पर देश के किसी भाग में उत्पन्न होकर उस प्रान्त को गौरवान्वित बनाया करते हैं।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण

देश में एक ऐसे ही महापुरुष का आविर्भाव हुआ। वे महापुरुष कुल २१ वर्ष तक ही इस धराधाम पर विराजे, किन्तु इस अल्पकाल में ही उन्होंने संसारी लोगों के निमित्त इतने उपकार का कार्य किया कि अनन्तकाल तक उनका नाम इस भूतल पर अमर रहेगा। उन महापुरुष का नाम था श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज।

महाराष्ट्र प्रदेश में "आलन्दी" नाम का एक बहुत ही प्राचीन नगर है। उस नगर में विट्ठलपन्त नाम के एक अत्यन्त ही धार्मिक विवेक वैराग्य सम्पन्न परम सात्विक ब्राह्मण निवास करते थे। जैसे वे धार्मिक और विवेकी थे वैसी ही पतिपरायणा और विवेकवती उनकी धर्मपत्नी थी। पन्तजी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं था, उनकी स्त्री परम सती साध्वी थी, भोजन वस्त्रों के लिए घर में कुछ कमी नहीं थी। भगवान ने उन्हें विद्या और बुद्धि भी प्रदान की थी। इन्हीं सब कारणों से उनका दाम्पत्य जीवन दुःखमय नहीं था, उन्हें यदि कोई दुःख था, तो वह एक यही था कि उनके कोई सन्तति नहीं थी। विट्ठल पन्त तो इस बात की कुछ विशेष परवाह नहीं करते थे, किन्तु उनकी धर्मपत्नी अपनी कोख को खाली देखकर कभी-कभी बहुत दुःखित हो जाती थीं। पन्तजी ने उन्हें अनेकों बार समझाया, किन्तु स्त्रियाँ सन्तान के लिए कितनी लालायित रहती हैं, इसका अनुमान पुरुष नहीं कर सकते। यही कारण था कि पन्तजी के अनेकों बार समझाने बुझाने पर भी उनकी पत्नी का मनःसन्ताप दूर नहीं हुआ। पन्तजी ने अपनी स्त्री से कई बार संन्यासी होने की भी आज्ञा माँगी थी, किन्तु उनकी पत्नी सदा उन्हें इस कार्य से रोकती ही रहीं। एक दिन उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी से कहा—मैं गङ्गाजी-स्नान करने के निमित्त जाना चाहता हूँ, तुम्हारी इसमें क्या सम्मति है। उनकी स्त्री उस समय कुछ उद्विग्न थी। अन्यमनस्कता के कारण उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—"जाइये।" बस, पन्तजी ने इसे ही अपनी पत्नी की सम्मति समझकर संन्यासी होने का निश्चय कर लिया और वे शीघ्र ही अपने घर से निकल पड़े। वहाँ से चलकर वे काशीजी में आये। काशीजी में उस समय रामानन्द स्वामी का बड़ा भारी नाम था। वे उस समय के सर्वश्रेष्ठ धर्म-प्रचारक, समाज सुधारक और परम विद्वान् साधु थे। पन्तजी ने उन्हीं से जाकर संन्यास की दीक्षा ले ली और वहीं भगवती भागीरथी के तट पर रहकर शास्त्र चिन्तन और वेदान्त विचार करने लगे। स्वामी रामानन्दजी को यह बात विदित नहीं थी कि यह अपनी स्त्री की इच्छा के बिना ही संन्यासी हो गया है। पूछने पर इन्होंने कह दिया था कि मैं अपनी स्त्री की आज्ञा लेकर आया हूँ।

एक बार रामानन्द स्वामी रामेश्वर की यात्रा के लिये गये। रास्ते में वे आलन्दी में

भी ठहरे। इनका नाम देश के कोने-कोने में व्याप्त हो चुका था। वे जहां भी कहीं जाते वहीं झुण्ड-के-झुण्ड स्त्री-पुरुष उनके दर्शनों के लिए आ जाते। आलन्दी में अन्य बहुत सी स्त्रियों के साथ विट्ठल पन्त की स्त्री भी स्वामीजी के दर्शनों के लिए आई। पन्तजी की पत्नी ने स्वामीजी की भक्ति भाव से वन्दना की और स्वामीजी ने भी प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया कि "पुत्रवती हो।" स्वामीजी के मुख से ऐसी असम्भव बात सुनकर पन्तजी की स्त्री कुछ मुस्कराई। स्वामीजी ने इसका कारण पूछा, तो उसने कहा—"स्वामीजी महाराज आप तो मुझे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे रहे हैं और मेरे पूज्य पतिदेव तो मेरी इच्छा के बिना ही, काशी जाकर संन्यासी हो गये हैं।" सब बातें सुन लेने पर स्वामीजी को निश्चय हो गया कि वही पुरुष इस स्त्री का पति है।

काशी आकर स्वामीजी ने पन्तजी को समझाया कि "बिना सन्तति के स्त्री को छोड़कर तुम्हारा संन्यासी होकर रहना ठीक नहीं है। इस समय तुम मेरी आज्ञा से अपने घर जाओ और फिर गृहस्थी बनकर रहो।" पन्तजी ने गुरु-आज्ञा शिरोधार्य की और वे संन्यास आश्रम को छोड़कर गृहस्थी बन गये और आलन्दी में आकर अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। विधि का विधान तो देखिये, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर इनके क्रमशः चार सन्तानें हुयीं। सबसे पहले निवृत्ति नाथ जी हुए, उनके अनन्तर ज्ञानेश्वरजी, फिर सोपानदेव और अन्त में मुक्ताबाई नाम की एक लड़की हुई। ये सब के सब बाल्यकाल से ही अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न, परम ज्ञानवान् और भक्ति के साक्षात् स्वरूप ही जान पड़ते थे।

यह बात हम पहले ही बता चुके हैं कि मुक्तजीव जन्म से ही ज्ञानी हुआ करते हैं। ज्ञानेश्वरजी भी जन्म के ही ज्ञानी थे, और ज्यों ही इनकी अवस्था ८ वर्ष की हुई, उस समय इनके ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथजी की अवस्था १० वर्ष की थी। इनके पिता को अब बालकों के उपनयन संस्कार कराने की चिन्ता हुई। किन्तु यह काम उस समय इनके लिये सरल नहीं था। वे संन्यासाश्रम का परित्याग करके गृहस्थी हुए थे। यह काम शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध था, कोई भी पण्डित संन्यासी के पुत्रों को दीक्षा देने के लिये राजी न हुआ। विट्ठल पन्त ने अनेक विद्वानों से प्रार्थना की, सभी पण्डितों के पैर पूजे, कठिन से कठिन प्रायश्चित्त करने के लिये कहा, किन्तु पण्डितों ने स्पष्ट कह दिया—"इस कर्म के लिये कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। बस इसका तो यही प्रायश्चित्त है। अपने जीवन का अपने आप ही अन्त कर दो। देहान्त के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकता।" विट्ठल पन्त ने विद्वान् ब्राह्मणों की व्यवस्था शिरो-

धार्य की। वे अपने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके गृहस्थी हुए थे। जिस प्रकार गुरु की आज्ञा से उन्होंने संन्यास धर्म को छोड़ने का निश्चय किया था, उसी प्रकार ब्राह्मणों की आज्ञा से उन्होंने अपने प्राणों का भी अन्त करने का निश्चय कर लिया। वे प्रयाग में गङ्गा-यमुना और सरस्वती के संगम पर पहुँचे और हँसते-हँसते उन्होंने गङ्गाजी में कूदकर अपने प्राणों को विसर्जन कर दिया।

प्रयाग से जब निवृत्तिनाथजी लौटकर आये तब उस समय उनकी अवस्था कुल १० वर्ष की थी। ज्ञानेश्वरजी ८ वर्ष के थे और उनसे भी छोटे दो भाई बहिन उनके और थे। ये सबके सभी बालक थे, इनके परिवार के लोगों ने इन्हें पैतृक सम्पत्ति में से हिस्सा देना तो अलग रहा, उल्टा इन्हें घर से भी निकाल दिया। बेचारे निरे बालक थे, करते भी क्या, इतना सब होने पर भी वे निराश न हुए और वहीं एक स्थान पर सब बहिन भाई रहने लगे।

पैतृक सम्पत्ति से तो ये वंचित ही रहे, छोटी अवस्था में और कुछ ये कर ही नहीं सकते थे, अतः इन्हें भिक्षा के द्वारा चारों बहिन-भाई अपना निर्वाह करते और सदा शास्त्र चिन्तन करते रहते।

इनके पिता के शरीर त्याग देने पर भी कोई ब्राह्मण इनका उपनयन कराने के लिये तैयार नहीं था। निवृत्तिनाथजी को इस बात की ऐसी विशेष चिन्ता भी नहीं थी, किन्तु ज्ञानेश्वर महाराज की प्रबल इच्छा थी कि उपनयन संस्कार अवश्य हो। उनका विचार था कि वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का पालन अवश्य होना चाहिये। ब्राह्मणों ने उनसे कहा—"यदि पैठन के पण्डितगण इस बात की व्यवस्था दे दें तो हम उपनयन करा सकते हैं।" इसलिये ये चारों बहिन-भाई पैठन में गये। वहाँ पहले तो ब्राह्मणों ने इन्हें व्यवस्था नहीं दी। उन्होंने कह दिया—संन्यासी के पुत्रों का उपनयन संस्कार शास्त्र-सम्मत नहीं है। किन्तु जब इन्होंने अपने अपूर्व चमत्कार दिखाये, तब पण्डितों ने इन्हें एक व्यवस्था पत्र लिख दिया कि ये चारों ही बालक अवतारी पुरुष हैं—इन्हें प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं।" इस प्रकार ये पण्डितों की व्यवस्था लेकर अपने गाँव में आये वहीं आकर रहने लगे।

इनकी प्रतिभा जन्म से ही अलौकिक थी, अतः इन्हें किसी भी प्रकार की बाह्य दीक्षा की आवश्यकता न थी, किन्तु तो भी इन्होंने अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथजी से योगाभ्यास की दीक्षा ली। निवृत्तिनाथजी जब छोटे ही थे, तब एक बार रास्ता भूलकर अञ्जनी पर्वत की एक गुफा में पहुँच गये। वहाँ पर गैनीनाथजी महाराज तप कर रहे थे। इन्होंने उनके चरणों में प्रणाम किया और प्रेम में गद्गद होकर वे उनके चरणों में लोटने लगे।

इनके ऐसे कोमल स्वभाव और प्रेम को, देख-कर गैनीनाथ तो परम प्रसन्न हुए और योग्य अधिकारी समझकर उन्होंने इन्हें योग का उपदेश किया। उसी ज्ञान को पाकर निवृत्ति-नाथजी ने अपने तीनों बहिन-भाइयों को भी बताया। उसी दिन से ये सभी अभ्यास करने लगे।

पैठन से लौटने पर ये आलन्दी में आकर रहने लगे थे। आलन्दी में इनका समय भजन, ध्यान, कथा, कीर्तन और ब्रह्म विचार में ही व्यतीत होता था। ये श्रीमद्भागवत, योग-वासिष्ठ तथा गीताजी का निरन्तर अध्ययन करते थे। १५ वर्ष की अवस्था में आपने गीता के ऊपर ज्ञानेश्वरी या भावार्थ दीपिका नाम की टीका लिखी। इसीसे इनके अलौकिक होने का प्रमाण मिलता है। १५ वर्ष की अल्पावस्था में साधारण बालकों को किसी विषय पर ठीक-ठीक विचार करने का भी ज्ञान नहीं होता, उस अवस्था में ऐसे विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ की रचना करना साधारण मनुष्य का काम नहीं है। अस्तु, गीता की टीका समाप्त करके आपने तीर्थ यात्रा करने का निश्चय किया। अपने सभी बहिन-भाइयों के साथ आपने तीर्थ यात्रा की। काशी, प्रयाग, बद्री, केदारनाथ, मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका आदि तीर्थों में भ्रमण करते हुए आप पण्ढरपुर पहुँचे। वहाँ श्री विट्ठलनाथजी का दर्शन करके भाई-बहिन के साथ आलन्दी लौटकर आ गये और अन्त तक वहीं रहे।

लोकोत्तर चमत्कार

अन्य साधु महात्मा और सन्तों की भाँति श्री ज्ञानेश्वर महाराज के विषय में भी बहुत सी चमत्कारिक घटनाएँ हैं। वे जिस-जिस तीर्थ में गये, वहाँ-वहाँ पर इनके बहुत से चमत्कार हुए। उन घटनाओं में से केवल दो घटनायें हम नीचे उद्धृत करते हैं।

१—पैठन में जब ये सब बहिन-भाई विद्वानों से व्यवस्था माँगने गये तब उन्होंने इन्हें व्यवस्था देने से मना कर दिया। इन्होंने उनसे बहुत सी बातें कीं। पण्डित लोग इनसे वेदों के सम्बन्ध में बातें करने लगे। इन्होंने कहा—''वेद का क्या मत है, यह इस भैंसे से पूछो। सभी सुनकर चकित हो गये। इन्होंने भैंसे को आज्ञा दी कि अमुक वेद का अमुक मन्त्र बोलो तो सही। इनकी आज्ञा पाते ही भैंसा वेद मन्त्र बोलने लगा। सभी पण्डित आश्चर्य चकित रह गये और उन्हें अवतारी पुरुष माना।

२—जब ये तीर्थ यात्रा करते हुए काशीजी में पहुँचे तब वहाँ एकान्त स्थान में जाकर ठहरे। उस समय काशी में मुद्गलाचार्य नाम के एक सत्पुरुष यज्ञ कर रहे थे। उस अवसर पर ज्ञानेश्वर महाराज भी वहाँ जा पहुँचे। यज्ञ में इस बात पर वाद-विवाद हो रहा था कि यज्ञ के समय अग्रपूजा किसकी हो। यज्ञों में यही विवाद बड़े झगड़े का होता है। महा-राज युधिष्ठिर के यज्ञ में भी इस विषय पर

बड़ा झंझट हुआ। जब बहुत वाद-विवाद के पश्चात् कृष्ण भगवान को अग्रपूजा का अधिकारी ठहराया गया और उनकी अग्रपूजा होने लगी तब शिशुपाल इस बात से बहुत ही क्रुद्ध हुआ। वह कृष्ण भगवान को हजारों गालियां देने लगा। लड़ने तक को तैयार हुआ। भगवान ने अपने चक्र-सुदर्शन से उसका शिरच्छेदन किया। इस प्रकार एक बड़े राजा की बलि देने के अनन्तर यह विधि समाप्त की गयी। यही झगड़ा मुद्गलाचार्य के यज्ञ में भी उपस्थित था। आचार्य ने अन्य कोई उपाय न देखकर यह निर्णय किया कि मैं हथिनी की सूँड में माला डाल देता हूँ, वह हथिनी जिसके गले में माला पहना दे उसी की अग्रपूजा होगी। यह सम्मति सबको अच्छी लगी। ऐसा ही किया भी गया। हथिनी ने यज्ञ में बैठे हुए सभी पण्डितों को एक-एक करके देखा। जब वह ज्ञानेश्वर महाराज के निकट पहुँची, तब उसने इनके गले में माला डाल दी। सब लोग इस बात से अत्यन्त प्रसन्न हुए और यज्ञ में अग्रपूजा हुई।

कहते हैं कि इनका दिया हुआ यज्ञ का पुरोडाश श्री विश्वनाथजी ने अपने हाथों से स्वयं ग्रहण किया। इस बात से लोगों को इनके अलौकिक पुरुष होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहा।

ज्ञानेश्वर महाराज सगुणोपासक थे। वे तीर्थ, व्रत, सेवा, पूजा, श्राद्ध, तर्पण सभी बातों को मानते थे इन कार्यों से परमार्थ के मार्ग में बहुत कुछ मदद मिलती है। आत्म-शुद्धि के लिये ये सभी कार्य आवश्यक हैं।

ज्ञानेश्वर महाराज अपने समय के सन्त महात्माओं में से एक उच्च कोटि के महात्मा हुए हैं। इनकी अलौकिक प्रतिभा, विलक्षण बुद्धि, अद्भुत कार्य-शक्ति और विलक्षण व्यवहार पटुता का ज्ञान, इनकी बनाई हुई गीता की टीका से मिलता है। मराठी भाषा के ये महात्मा आदि कवि समझे जाते हैं। इन्होंने सम्पूर्ण गीता की "भावार्थ-दीपिका" नाम की टीका मराठी भाषा के अभंगों (गीतों) में बनाई है। यह टीका तो नाम मात्र की है, यथार्थ में यह एक स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ ही है। स्थान-स्थान पर महाराज का अद्भुत पाण्डित्य प्रकट होता है। गीता के गूढ़ भावों को जैसी सरलता से ज्ञानेश्वरजी महाराज ने समझाया है, वैसी सरलता से देशी भाषा के शायद ही किसी कवि ने समझाया हो। एक-एक विषय के सैकड़ों दृष्टान्त दे डाले हैं, समझाने की प्रणाली ऐसी चित्ताकर्षक और मनोरञ्जनपूर्ण है कि इतना गहन विषय होने पर भी पाठक पढ़ते-पढ़ते ऊबता नहीं, किन्तु चित्त में उत्सुकता बढ़ती ही जाती है कि देखें आगे क्या कहते हैं। इस ग्रन्थरत्न के द्वारा महाराज ने संसारी जीवों का बहुत ही अधिक कल्याण किया है। महाराष्ट्र में इस ग्रन्थ का बड़ा भारी मान है। विद्वत्समाज में इसका आदर

इसी प्रकार है, जिस प्रकार कि उत्तर भारत में तुलसीकृत रामायण का है। महाराज ने इस ग्रन्थ को अपनी अवस्था के १५ वें वर्ष में लिखा था। इससे इनकी विलक्षण बुद्धि और अलौकिक प्रतिभा का प्रमाण मिलता है।

ज्ञानेश्वर महाराज का जन्म सम्वत् १३३२ वि० में बताया जाता है। वे २२ वर्ष तक इस धराधाम पर विराजमान रहे। इनके अन्तर्धान होने के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने जीवित ही समाधि ली थी। जब इनकी अवस्था २१ वर्ष की हो गई, तब इन्होंने अपने आप ही इन्द्रायणी नदी तट के पर एक गुफा तयार कराई। बहुत से सन्त महात्मा इस समाचार को सुनकर वहां एकत्रित हो गये थे। सब ने मिलकर एकादशी को व्रत किया। द्वादशी के दिन सभी सन्तों के साथ महाराज ने पारायण किया। भजन-कीर्तन बराबर होता ही रहा। त्रयोदशी के दिन इन्होंने स्वयं ही समाधि में बैठने के लिये तुलसीपत्र और बिल्वपत्र का आसन बनाया। सभी सन्त महात्माओं से अन्तिम विदाई ली और सभी ने रुँधे हुए कण्ठ से महाराज को अनुमति प्रदान की। भगवान् श्री विट्ठलजी ने प्रकट होकर स्वयं इनके हाथों को स्तुति की और इनके गले में फूलों की माला पहिनाई। श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने विट्ठलनाथ की वन्दना की। साधु सन्तों ने महाराज की चरण-रज मस्तक पर चढ़ाई। सभी ने महाराज का जय-जयकार किया। उस गगनभेदी जय-जयकार के बीच महाराज ने समाधि ली। इनका एक हाथ स्वयं भगवान् विट्ठलनाथजी ने पकड़ा और दूसरा इनके ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथ ने। इस प्रकार उन्होंने अपनी सांसारिक लीला समाप्त की। वे अपनी इच्छा से ही जगत् में आये थे और अपने कार्य की समाप्ति होने पर अपनी ही इच्छा से इस संसार से पृथक् हो गये। उनका नश्वर शरीर भले ही नष्ट हो गया हो, किन्तु कभी भी नष्ट न होने वाली उनकी विमल कीर्ति संसार के अन्त तक अक्षुण्ण बनी रहेगी। ○○

रसना सांपिनि बदन बिल, जो न जपहिं हरि नाम।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि विधाता बाम॥
तुलसी मीठे बचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण एक मन्त्र है, तजि देउ बचन कठोर॥
तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरन करो॥

भारतीय धर्म और उसका ध्येय

श्री पं० गोपालप्रसादजी दुबे

यह निर्विवाद है कि 'वेद' ही संसार का प्राचीनतम् ग्रन्थ है। भारत का सनातन-धर्म जब अपने पूर्ण विकास पर था, तब अन्य कोई भी आधुनिक धर्म अस्तित्व में न था। वह मनुष्य का शाश्वत एवं सनातनधर्म था। धर्म के सम्बन्ध में वस्तुतः भारत विश्व का बहुत दिनों तक नेतृत्व करता रहा है; परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज अनेक भारतवासी ऐसे हैं, जिन्हें धर्म के नाम से ही घृणा है। कुछ तो ऐसे भी हैं, जो धर्म का अर्थ तक नहीं जानते, भले ही उन्होंने विज्ञान और नास्तिकता पर भी कुछ पुस्तकें पढ़ ली हों। ऋग्वेद में धर्म को विश्व का उत्पादक और सम्पोषक माना है। अथर्ववेद में—'ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च' (१२/५/७) कहा है। तथा वैशेषिकदर्शन के अनुसार 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—जिससे मानव का अभ्युदय और कल्याण हो, वही धर्म है, ऐसा कहा गया है। फिर विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है कि—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं
श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि
परेषां न समाचरेत्॥
(श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण ३/२५३/४४)

दूसरों के आचरण हमें पसन्द नहीं, वैसे आचरण हमें दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिये। महाभारत में व्यासजी ने अनेक जगह धर्म को स्पष्ट किया है।

'अहिंसा परमोधर्मः', 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा', 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्', 'अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः'।

संक्षेप में इनका तात्पर्य है कि दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिये, अपितु सहायता करनी चाहिये। बौद्ध जातकों में 'विवेक धम्म माहिये' विवेक को ही धर्म कहा है। तैत्तिरीय आरण्यक का 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'—धर्म ही सारे जगत् को स्थिर करने वाला है—यह वचन सबको एक सूत्र में पिरो देता है। 'वसिष्ठ स्मृति' में 'आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः' मानव के पवित्र आचार ही परम धर्म हैं, ऐसा निश्चय है—यह भी उसी की पुष्टि करता है। महाभारत 'आचारप्रभवो धर्मः' कहता है।

इन वचनों में किसी एक धर्म की ओर संकेत नहीं है। इसलिये इनका मूल सनातन धर्म है। निदान धर्म का मूल रूप जीवन की पवित्रता, मन की शुद्धता और सत्य की प्राप्ति सब धर्मों को स्वीकार है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज बनाकर रहता है और

समाज को लेकर ही उसे चलना है। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्र होते हुए भी सामाजिक शिष्टाचार से घिरा है। अतएव परस्पर व्यवहार से शिष्टाचार को निभाना है। यही शिष्टाचार-धर्म सुसमाज का विधान है। अन्यथा—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
(हितोपदेश)

खान-पान, निद्रा, डर, मैथुनादि शारीरिक आवश्यकताएँ मानव तथा जानवरों में समानरूप से वर्तमान रहती हैं। धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है, जो मानव को पशुओं से ऊपर उठाता है। सदाचार एक पुरुषार्थ है, कायरता अथवा अकर्मण्यता नहीं। धर्म पालन में आत्मबल चाहिये। धर्म-स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण है। अतएव सुसंगठित समाज के लिये संयत होकर हरेक को कुछ देना है और कुछ लेना है। कुछ त्याग करना है, कुछ लाभ उठाना है। ऐसा आपसी सद्भाव न हो तो मानव बर्बर अवस्था में पहुँच जाय। हमें ज्ञात है कि किसी भी राष्ट्र तथा समाज का उत्थान और पतन उसमें समाविष्ट मानव के उत्थान पतन पर निर्भर है। अतएव आवश्यक है कि समाज का हर घटक इसके प्रति सजग रहे।

मनु के अनुसार जैसे पृथ्वी में बोये बीज तत्काल फल नहीं देते, समय आने पर धीरे-धीरे लगते हैं; ऐसे ही अधर्म के वृक्ष के तत्काल फल नहीं मालूम होते, किन्तु वह जब फलता है तब कर्ता के मूल का ही छेदन कर देता है। अतएव सावधान! धर्म का त्याग नहीं होना चाहिए। मेरा निवेदन किसी एक विशिष्ट धर्म से कदापि नहीं है, क्योंकि धर्म के मूल सिद्धान्त सब एक ही हैं। साधन में कुछ विभिन्नता होगी। लक्ष्य सबका एक है—'जन-कल्याण और सत्य की उपलब्धि'। कोई भी धर्म हो, उसका 'विज्ञान से' किसी प्रकार का कोई झगड़ा या मतभेद भी नहीं है। धर्म जहाँ एक ओर व्यक्तिगत सामाजिक सदाचार तथा पवित्र विचार की ओर इङ्गित करता है, वहाँ विज्ञान प्रकृति के रहस्यों का दिग्दर्शन कराता है। धर्म सदाचार सिखाता है, विज्ञान ज्ञान देता है। प्रथम कर्तव्य की प्रेरणा करता है, दूसरा सुख साधन जुटाता है। एक श्रेय है, दूसरा प्रेय। दोनों ही सत्य पर आधारित हैं। समाज-कल्याणार्थ वे एक-दूसरे के पूरक हैं। एक ही पेड़ की दो शाखायें हैं। जिनका फल है—मानव-कल्याण।

विज्ञान बुद्धि प्रधान है और धर्म भावना प्रधान। विज्ञान जब भावना रहित हो जाता है, तब विनाश कर बैठता है। विज्ञान पर धर्म का नियन्त्रण पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की क्षमता रखता है। इस कारण दोनों का समन्वय आज के युग में नितान्त आवश्यक है विज्ञान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी

एक उत्तम नागरिक बनाने के लिये धर्म की। विज्ञान को सुखद, मङ्गलकारी बनाने के लिये उस पर धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है। हम आज पृथ्वी की दयनीय स्थिति देख रहे हैं— गृहयुद्ध, विप्लव, क्रान्ति, विक्षोभ, अपहरण, हत्याएँ और भीषणतम नरसंहार के विस्फोटों की प्रतिस्पर्धा ! हमारा विश्व आज विनाश के कगार पर बैठा पशुबलि के समान खड्गप्रहार होने की घड़ियाँ गिन रहा है।

इसका एक दूसरा पहलू भी है। क्या इन विकसित देशों की प्रजा शान्ति का अनुभव कर रही है। शान्ति हेतु क्या वे एल० एस० डी० का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। नींद की गोलियाँ नहीं खा रहे हैं और अपना देश छोड़कर 'हरे राम हरे कृष्ण' की रट नहीं लगा रहे हैं। विज्ञान में तो वे अग्रणी हैं। फिर ऐसा क्यों ? क्योंकि धर्म से उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है। भारत ने धर्म के क्षेत्र में प्राचीनकाल से विश्व का नेतृत्व किया था, आज भी करेगा। अभी दो दशक पूर्व की ही बात है, जब हमने अपने पैरों पर चलना सीखा, किन्तु विश्व को 'पञ्चशील और सह-अस्तित्व' का पाठ पढ़ाया। आज आधे से अधिक राष्ट्र हमारे पीछे हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी हम किसी से कम नहीं हैं। उन्नत पराक्रमी राष्ट्रों की श्रेणी में हम भी हैं। अणु-विस्फोट की हममें क्षमता है। प्रक्षेपास्त्र का हमने अध्ययन किया है। हम विकास की ओर बढ़ रहे हैं, किन्तु विनाशकारियों की होड़ से दूर हैं। हमने किसी भी देश पर आज तक आक्रमण नहीं किया। हमारा कोई उपनिवेश नहीं है। हमने भयङ्कर-से-भयङ्कर झञ्झावातों का मुकाबला किया। बाहरी आँधियों और तूफानों को सहा, अपितु धर्म हमसे अलग नहीं हुआ। विभिन्न पन्थ तथा सम्प्रदाय के आक्रामक हम पर आये। उनका यहाँ निवास हुआ। परिणामतः वे हममें ऐसे घुल-मिल गये, जैसे जल में किसी ने कूटकर एक रस कर दिया हो। अब भी हम अपनी समस्याएँ मिल बैठकर सुलझाने में विश्वास करते हैं और एक-एक कर सुलझा भी रहे हैं। वर्तमान पृथ्वी-वल्लभों के गुटों का हम शक्ति संतुलन बनाये रख रहे हैं। इसीलिए आशान्वित हैं कि आज नहीं तो निकट भविष्य में ही हम भी विज्ञान पर धर्म की विजय अवश्य कर दिखायेंगे।

❀ भोगफल ❀

सुख और दुःख का जो भोग है, वह कर्म संस्कार का भोगफल है। जो अभिमत विषय के अनुकूल है, उस प्रकार की घटना से सुख बोध होता है, जो उस प्रकार के विषय के प्रतिकूल है, उससे दुःख बोध होता है।

सुख ही जीव का इष्ट है, अतः इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की अप्राप्ति सुख का हेतु है। उसी प्रकार इष्ट की अप्राप्ति एवं अनिष्ट की प्राप्ति दुःख का हेतु है।

गुरुदेव की वाणी से

— श्री डा० ऋषिराम शर्मा

वाराणसी योग-प्रचार कार्यक्रम में गुरुदेव की वाणी से जो उपदेश सुना और जो मैंने ग्रहण किया उसी की जानकारी इस लेख के माध्यम से मैं दे रहा हूँ। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मुझे लेख लिखने में संकोच रहता है। इसीलिए परम श्रद्धेय गुरुदेव जी की आज्ञा के बाद भी लेख नहीं लिख पाता हूँ। मैं इसके लिए स्वयं लज्जित हूँ, क्योंकि अध्यात्म के गूढ़ विषय पर एक अनुभूतिशून्य जीव अपना क्या विचार व्यक्त करे। मानसिक विवशता में गुरुदेव की वाणी एवं भगवद् गीता का आश्रय लेकर कुछ लिखने को उद्यत हो रहा हूँ। कहीं कोई बात किसी ज्ञानस्थ गुरुभाई की अनुभूति के विपरीत हो तो कृपया गुरुदेव जी के चरण कमलों में निवेदन कर अपनी शंका दूर कर लें।

हम जिस जगत में जन्म लेकर आये हैं उसमें आकर हमारी स्थिति एक उस अबोध, शक्तिहीन, ज्ञानहीन, मातृपितृहीन, साधनाहीन बालक की तरह है जिसे एक कंटकाकीर्ण, अन्धकारमय भयंकर जंगल में फेंक दिया गया हो। न तो उसे बाहर निकलने का रास्ता दिखाई देता है और न उसमें रास्ते ढूंढने की सामर्थ्य है। किसी तरह लड़खड़ाता हुआ आगे बढ़ता है तो माया मोह रूपी काँटों में उलझ जाता है, जब भूख-प्यास से व्याकुल होता है तो विषयभोग रूपी विषबेलि के फल खाकर ऐसा नशा चढ़ जाता है कि अपनी भी सुध-बुध भूल जाता है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाना है। इस बेचारे बालक को कोई दृष्टिवाला, सामर्थ्यवान, परम कृपालु अपना हाथ पकड़कर, अपनी गोदी में उठाकर, विषैले काँटों से रक्षा करता हुआ बाहर निकाल ले आये तो उसका अहोभाग्य है, नहीं तो न जाने कब तक वह उस पीड़ा के समुद्र में पड़ा रहेगा।

हमारे कृपालु गुरुदेव ने अपने मुखारविन्दु से इस जगत के बारे में एक रहस्य की बात बताई कि—

प्रकाशस्थिति क्रियाशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

अर्थात् यह दृश्य जगत परमेश्वर की अष्टधा प्रकृति यानी पंच महाभूत, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार की देन है, त्रिगुणात्मिक माया इसकी संचालन कर्ता है जिसके प्रभाव में इसका ज्ञान होता है, उसकी उपस्थिति का अनुभव होता है और रजोगुणी क्रियाशील शक्ति इसकी समस्त क्रियाओं का सम्पादन करती है। इस जगत में रहने वाला जीव जब तक अपनी बहिर्मुखी इन्द्रियों के माध्यम से इसकी सर्वव्याप्त विषबेलि के विषय भोग रूपी फल खाता रहता है तब तक वह इसी जगत में इस तरह फंसा रहता है जैसे गोबर के कीड़े को जगत में इस तरह फंसा रहता है, जैसे गोबर के कीड़े को इस दुर्गंध में से निकाल

भी लिया जाय तब भी वह बार-बार उसी गोबर में ही जाने के लिए प्रयासरत रहता है। किन्तु यदि कोई भाग्यवान जीव अन्तर्मुखी इन्द्रियों के द्वार खोल लेता है, अपने दिव्य रूहानी जगत के दृश्य देखने वाला बन जाता है, योगशक्ति के विकास या सामर्थ्यवान बन जाता है तो विषवेलि के विषयफल को न ग्रहण कर आगे बढ़ जाता है और अतीन्द्रिय आत्यन्तिक अमृतमय स्वात्मानन्द रूपी फल को खा लेता है तब यही जगत उसको अपने मायाजाल से मुक्त कर देता है। वह उस स्थिति को पा जाता है जिसमें—

सुखमात्यन्तिकं यत् तद्
बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
यत्र वेत्ति न चैवायं
स्थितश्चलति तत्त्वतः।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं
मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन
गुरुणापि विचाल्यते।
तं विद्यात् दुःखसंयोग
वियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो
योगोऽनिर्विण्ण चेतसा।

अर्थात् उस रूहानी अन्तर्जगत में प्रवेश हो जाने पर एक ऐसे सुख की अनुभूति होती है जिसे केवल बुद्धि ग्रहण करती है, जिसका कभी अन्त नहीं होता, जो इन्द्रियों की वृत्तियों के क्षणिक स्पर्शों पर निर्भर नहीं करता और जिसको पाकर जीव अपनी अज्ञानान्धकार में निर्मित सीमाओं को तोड़ असीम ईश्वर सत्ता के साथ तादात्म्य कर लेता है; अब तक बुद्धि-बोधात्मक ज्ञान के कारण अविद्याजनित दुःखों से मुक्त हो जाता है यानी देहात्मक अहंकार के कारण वह मायिक जगत की नश्वर चीजों में नित्यता का अनुभव करके उनके नष्ट होने पर दुःखी हो जाता था, सभी विषयभोग क्षणिक परिणाम देकर पाप-पुण्यों के कर्म परिणाम स्वरूप आंख मिचौनी करते रहते हैं, तो वह देहवादी जीव सुख की परछाईं के पीछे भागता हुआ दम तोड़ देता है, फिर उन्हीं संस्कारों के कालचक्र में जन्म लेता है, पाप कर्म के परिणाम दुःख को सुख में बदलने की कोशिश करते करते कर्माशय बनाता जाता है, इस आशय में कि एक दिन उसके सुख को कोई नहीं छीन सकता परन्तु यह बात उसके अन्तर्मन में नहीं आती कि—

वासनायुक्त विषयभोग ही सर्व दुःखों के मूल हैं क्योंकि यह तो कर्मानुलम्बी है, विकारी मन केवल पापोन्मुख है तो परिणाम भी दुःखमय होगा और फिर भगवान पतंजलि तो कह दिये हैं कि—

परिणाम ताप संस्कार दुःखै गुणवृत्ति विरोधाच्च सर्वं दुःखमेव विवेकिनः।

बुद्धिमान वह है जो यह अनुभव कर

लेता है कि कर्मपरिणाम, आधिभौतिक, आधिदैविक आदि इस पाप-पुण्यों के कर्माशय में पड़े संस्कार और परस्पर रागद्वेष की वृत्तियों के सहज विरोध के कारण मन की अस्थिरता केवल दुःख का ही जनक है, यहां सुख की खोज मूर्खतामात्र है। अब जब इस इन्द्रियजाल से मुक्त हो गया है तो वह फिर कभी अपनी असीम सुख की स्थिति से वंचित नहीं होता है। अपनी स्वरूपस्थिति पाकर उसके सभी बुद्धिबोधात्मक स्थिति में रहने वाले संशयों से मुक्ति पा जाता है, अहंकार जनित संस्कारमय कर्माशय के योगाग्नि से भस्म हो जाने पर मूर्खता पूर्ण देहधारी अहंकार की व्यर्थ मृगतृष्णा के लिए दौड़ धूप समाप्त हो जाती है जब इस तरह दुखों का अन्त हो जाय तो समझो कि योगस्थिति आ गयी है। ऐसी योगस्थिति को पाने का निरन्तर प्रयास करना ही मानव जीवन का परम उद्देश्य है।

अब रही बात यह कि यह योगस्थिति कैसे मिले? इसकेलिए हमारे गुरुदेवजी ने बताया कि इसका एकमात्र उपाय मन की एकाग्रता का साधन है। जैसे-जैसे मन में एकाग्रता के परिणाम उदय होते जायेंगे। वैसे वैसे ज्ञानी प्रकाश बढ़ता जायगा और वृत्तियां अन्तर्मुखी अन्तर्जगत में प्रवेश करती जायगी। आदि श्रीमद् शंकराचार्य ने भी बताया है कि—

सत्वं विशुद्धं जलवत्तथापि
ताभ्यां मिलित्वा शरणाय कल्पते
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्
सः सदानन्दरसं समृच्छते।

अर्थात् जैसे-जैसे मन एकाग्र होगा, मन को चंचल बनाने वाला रजोगुण तथा मन पर आवरण डालने वाला (अर्थात् कारणरूप मूलप्रकृति एवं अधिष्ठान रूप परम पुरुष को आवृतकार कार्यरूप जगत का ही आभास तथा ज्ञान कराना ही आवरण है) तमोगुण हटता जाता है और परिणाम स्वरूप सतोगुण का ज्ञानमय प्रकाश बढ़ता जाता है और इसी प्रकाश में परमात्मा का प्रतिबिम्ब ध्यान-समाधि के द्वारा परिलक्षित होने लगता है, ठीक वैसे ही जैसे मिट्टी आदि के कणों और कीचड़ आदि को जल में से निकाल देने पर जब वह शुद्ध हो जाता है तो उसमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट परिलक्षित होता है, किन्तु कीचड़ के रहते जल में कुछ दिखाई नहीं देता, अतः रजोगुणी तथा तमोगुणी प्रवृत्ति के रहते किसी को स्वरूपबोध नहीं हो सकता जैसे ही मन में सतोगुणी प्रकाश व्याप्त हो जाता है, दिव्य अनुभूतियां होने लगती हैं, परिणाम स्वरूप मन के सूक्ष्म तन्मात्राओं में प्रवेश कर जाने पर प्रकृति के तत्वों का बुद्धि विश्लेषण करने लगती है। इस प्रकार की स्थिति आने में ध्यान और स्वाध्याय की ही प्रक्रिया मूल रूप में सहायक होती है, क्योंकि गुरुदेव की की वाणी का प्रमाण है कि—

स्वाध्यायात् योगमासीत
योगात् स्वाध्यायमामनेत ।
स्वाध्याय योग सम्पत्या
परमात्मा प्रकाशते ॥
पश्चात् पुण्येन लभते
सिद्धेन सह संगतिम् ।
तथा सिद्धस्य कृपया
योगी भवति नान्यथा ॥
ततो नश्यति संसारोऽयम्
नान्यथा शिवभाषितम् ॥

अर्थात् निरन्तर सत्कार पूर्वक दीर्घकाल तक स्वाध्याय में लगे रहने से योग स्थिति का प्रादुर्भाव होता है और योग स्थिति में मन के एकाग्र होने पर स्वाध्याय पुष्ट होता है, क्योंकि स्वाध्याय शीलवाले की दृष्टि में देवता तथा ऋषि सिद्ध पुरुष आने लगते हैं। इस तरह स्वाध्याय और योग के संयोग से सतोगुण के प्रकाश में परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट होने लगता है, पुण्यों की वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप सिद्धों के साथ सत्संग प्राप्त होता है और उनकी कृपाओं से शक्तिपात होता है, योग स्थिति की प्राप्ति होती है और अज्ञानान्धकार में भटकाने वाला मायामोह का जगत स्वतः नष्ट हो जाता है। तभी जीव योगी होकर उस परम सुख को पाता है जिस में दुःख का भय नहीं होता।

इस कलियुग में मन को एकाग्र कर योग स्थिति पा जाना लोगों को कल्पना मात्र ही लग रहा है, गुरुदेव जी पर हम प्रायः प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष यह आरोप लगाते हैं कि यदि वह परम कृपालु हैं तो कृपा करके हमें योग स्थिति क्यों नहीं दे देते, दूसरी ओर गुरुदेव भी कृपा करने के लिए इतने आतुर हैं, कि कब मेरा बच्चा इस कृपा को सम्हालने का अधिकारी बने, नहीं तो शक्तिपाकर अपना और जगत का अनर्थ ही करेगा। जैसे एक माता अपने नन्हे मुन्ने बालक पर प्राण न्यौछावर किये रहती है किन्तु बच्चा उससे तेज धार वाला चाकू मांगता है तो नहीं देती, चाहे वह कितना भी रोदन करे। एक तरफ प्यार और दूसरी ओर अनर्थ की सम्भावना, अन्ततोगत्वा या तो बहलाफुसलाकर समझाने की कोशिश करती है; फिर भी नहीं मानता तो प्यार का गला घोंटकर चांटा भी मार देती है, किन्तु किसी भी कीमत पर अनर्थ नहीं होने देती। हमारे गुरुदेव दिनरात समझाते हैं, प्रेरणा देते हैं कि अनर्थ से बचने के लिए स्वाध्याय करो, ध्यान तथा धारणा का अभ्यास करो, अपने आहार, व्यवहार तथा आचरण को शुद्ध तथा सात्विक बनाओ, जिससे उनकी कृपा को सम्हाल सको, परन्तु हमारी भी जिद है कि साधन कुछ नहीं करेंगे, बस गुरुदेव से जिद करके शक्तिपात करावेंगे और फिर दुनियां को अपनी सिद्धाई का जादू दिखायेंगे, सम्मान पायें। जब शक्ति से खाली हो जाय तो गुरुदेव के प्रति अपनी अमूल्य श्रद्धा को भी गैंवा बैठे। इस स्थिति में

हमारे कृपा सागर गुरुदेव अपने बच्चों को कैसे सम्हाल रहे हैं, बस वही जानें।

अब विचारने का विषय यह है कि क्या बिना अधिकारी बने हम योग समाधि नहीं पा सकते ? उत्तर है नहीं, क्योंकि योग-योगेश्वर महायोगी भगवान कृष्ण का सत्य वचन है कि—

भोगैश्वर्य प्रसक्तानाम्
तयापहृत चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः
समाधौ न विधीयते ॥

अर्थात् जब इन्द्रियां अपने विषय भोगों में आसक्त हैं, भोगों की वासना मन पर इस तरह अधिकार किये हुए है, कि विषय चिन्तन से मन एक क्षण को भी नहीं हटता, अपनी विषय-वासना की पूर्ति के लिए, मन रागद्वेष के चक्कर में फंस गया है, यहां तक कि न तो वह उस से निकलना चाहता है और न उसमें उससे निकलने की सामर्थ्य है। ऐसी स्थिति में किसी को भी योग स्थिति पाना असंभव है। जग-दात्मा भगवान कृष्ण इसे और स्पष्ट करते हैं कि—

आवृतं ज्ञानमेतेन
ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय
दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धि-
रस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैः विमोहयति एषः
ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन विषय भोगों की कामनायें ही जीवों के उनके अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के ज्ञान को आवृत किये हुए हैं क्योंकि जब तक जीव को भ्रान्तिजन्य जगत का ही अनुभव होगा, क्योंकि बुध्याकार मन वृत्ति का ही अनुभव कराता है, तत्व से दूर रखता है। उदाहरण के लिए मशीन पर लगी निर्जीव चलचित्र फिल्म गतिमान होने पर जीवित जगत का ही पर्दे पर अनुभव कराती है, उस की अपनी निर्जीवता पर आवरण आ जाता है। इसी तरह यह चंचल मन इस जड़ जगत में सजीवता ला देता है, वास्तविकता को छिपाकर भ्रान्ति जनित ज्ञान कराता है कि प्रकृति द्वारा किये गये कार्यों में भी अपना ही कर्तापन देखता है। इस लिए यह चंचल मन किसी को भी तत्व दर्शन नहीं होने देता। यही कामनायें मन, बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से जीव को इस मायिक जगत में भट-काता रहता है। इसीलिए इस मन पर नियं-त्रण करने के लिए भगवान कृष्ण ने योगा-भ्यास करने का आदेश दिया है—

योगी युञ्जीत सतत-
मात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा
त्यक्तसर्व परिग्रहः ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य
स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं
चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा
यतचित्तेन्द्रिय क्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्
योगमात्मशुद्धये ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं
योगी नियतमानसः ।
शांति निर्वाणपरमां
मत्संस्थामधिगच्छति ॥

अर्थात् योगी बनने के लिए किसी एकान्त स्थान में रह कर जहाँ बाह्य विघ्न उपस्थित न हो सके, वहाँ यमनियमादि साधन सम्पन्न हो कर धारणा तथा ध्यान का अभ्यास करना चाहिए जिससे मन को भोग जगत से खींचकर एकाग्र किया जा सके। जब मन इन्द्रियों को को अपने विषय चिन्तन से रोककर सर्वमित कर लेता है और उसके लिए समाप्ति की दशा का कोई सं शय न हो, तभी वह एकाग्रता की ओर बढ़ता है। फिर किसी विशुद्ध वातावरण वाले स्थान पर जो कि समतल हो, दुर्गन्ध रहित हो, वासना वाले संस्कारों से मुक्त हो, अपना कुशा, अजिन तथा वस्त्र वाला स्थिर आसन लगा लें। उस आसन पर बैठकर, रीढ़ की नाड़ी को सीधा रखकर, मन की एकाग्रता का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार से निरन्तर तथा अभ्यास के बाद जब नाड़ियों का शोधन हो जायगा। मन स्थिर हो कर वृत्ति शून्य हो जायगा। तभी वह परम सुख और शांति को देने वाली योग स्थिति को प्राप्त होता है। किन्तु यह मन बहुत बलशाली तेजगति वाला है, इस पर संयम करना असंभव सा है। भगवान कृष्णने स्वयं स्वीकारा है कि यह मन चिरकाल तक किये जाने वाले योगाभ्यास तथा विवेक से जनित वैराग्य की ही पकड़ में आता है। अतः जो संयमी नहीं है, जिसका आहार शुद्ध व सात्विक नहीं है, जिसके आचरण भ्रष्ट है, अर्थात् जो रिश्वत देकर या लेकर काला धन कमाता है, जिसका जीवन नियमित नहीं है, वह व्यक्ति कभी भी योगी नहीं बन सकता योग ढोंग भले ही कर ले। भगवान स्वयं कहते हैं कि —

युक्ताहार विहारस्य
युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा ॥

अर्थात् जो शुद्ध, सात्विक स्वल्पाहार के नियम का पालन करते हैं, जो अपने लौकिक व्यवहार में इतने संयमित हैं कि लोक कल्याण वाले, यज्ञ दान तथा तप आदि मन को पावन करने वाले कर्मों को शास्त्रानुसार अनासक्तभाव से कर्तव्य भाव के ध्यान से प्रेरित होकर करते रहते हैं, जो उचित समय पर सोते एवं जागते

है, अर्थात् जिनका मन और शरीर सदैव स्वस्थ रहता और स्वस्थ तथा निर्मल मन से नियमित योग साधना में लगे रहते हैं केवल ऐसे ही लोगों को कुण्डलात्मक योग प्राप्त होता है । अर्जुन को शंका हुई कि इतने नियमों के पालन में यदि भूल हो गयी, किसी परिस्थिति में मन संयम से बाहर हो गया और जीव योगपथ से भटक गया तो उसको तो न माया मिली न राम । उसकी क्या गति होगी । भगवान ने आश्वासन दिया कि—

पार्थ नैवेह नामुत्र
विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चित्
दुर्गति तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान्
उषित्वा शाश्वती समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव कुले
भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धि संयोगं
लभते पौर्व देहिकम् ।
यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

अर्थात् हे अर्जुन तेरी शंका निराधार है, क्योंकि योगपथ पर भ्रष्ट होने पर भी उसकी किसी लोक में भी दुर्गति नहीं होती, अपितु योग साधना फलस्वरूप के वह इतने पुण्य अर्जित कर चुका होता है कि वह योग से च्युत होकर भी चिरकाल तक देवलोकों के सुख भोगता है और तब शुद्ध श्रीमान परिवार में उसका जन्म होता है अथवा योगी के कुल में दुर्लभ जन्म प्राप्त होता है और जन्म लेते ही उसमें पूर्व जन्म योगाभ्यास के परिणाम स्वयं प्रकट हो जाते हैं और पुनः अपनी योग सिद्धि प्राप्त करने का यत्न करता है । इसीलिए तो योग का जिज्ञासु भी शास्त्रों के विद्वानों से कहीं अधिक पुण्य है । अतः योग मार्ग में प्रवृत्त होना ही परम सौभाग्य की बात है ।

इस परम प्रभु की वाणी से इतना तो निश्चित हो गया कि योग साधना ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसकी सिद्धि में जन्म-जन्मान्तरों के दुःखों से मुक्ति मिल जाती है और अनुपम नित्य सुख की प्राप्ति होती है किन्तु असफलता में भी पतन नहीं, अपितु सम्मान जनक गति तथा पुनः योगसिद्धि की ओर सहज प्रयाण हो जाता है, और परिस्थितियां अनुकूल बन जाती है । तभी तो जगदीश्वर ने अर्जुन को निःसंकोच आदेश दिया कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्मात् योगी भवार्जुन ॥

अर्थात् हे अर्जुन मेरी दृष्टि में योगी का तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मकाण्डी इन तीनों से बहुत ऊँचा है इसलिए हे अर्जुन तुम भी योगी बन जाओ।

इस लेख के उपसंहार में हम उन अमूल्य वचनों की ओर संकेत करेंगे, जो मानव जीवन की सफलता के सोपान हैं। यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि योग ही दिव्य जीवन है, योग स्थिति ही सर्व दुखों से मुक्ति का एक सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। किन्तु योग सिद्धि की प्राप्ति का अधिकारी कैसे बनें, किस मार्ग का अनुसरण करें कि हम जीवन के परम उद्देश्य को निश्चित रूपेण प्राप्त कर सकें। अखिलेश्वर ने मुखारविन्द से गीता में यह सार तत्व भी बता दिया है —

ये तु सर्वाणि कर्माणि
मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां
ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता
मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ
मय्यावेशित चेतसाम्॥
मयि मनः आधत्स्व
मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अतः
ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं
न शक्नोसि मयि स्थिरं॥
अभ्यासयोगेन ततो
मामिच्छाप्तुं धनंजय।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि
मत्कर्म परमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि
कुर्वन सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथै तदप्यशक्तोऽसि
कर्तुं मद्योगाश्रितः।
सर्व कर्म फल त्यागं
ततः कुरु यतात्मवान्॥

अर्थात् जो लोग मुझ परमात्मा को ही अपना परम उद्देश्य मानकर अपने समस्त कर्मों को फलसहित मुझे अर्पण करते जाते हैं और अव्यभिचारिणी भक्ति से ध्यान योग द्वारा मेरी उपासना में लगे हैं उनके लिए मैं निश्चित ही भव सागर से उन्हें पार करने के लिए अर्थात् इस माया मोह के जगत से मुक्त करने के लिए नाव के साथ शीघ्र आ जाता हूँ और उन्हें काम-क्रोधमोह की भंवरों से बचाकर उनकी नाव पार लगा देता हूँ। अतः हे अर्जुन तू अपने मन को मेरे मन में, अपनी बुद्धि को मेरी बुद्धि में योग द्वारा समावेश करादे तब तू मेरा स्वरूप होकर मुझ चिन्मय सत्ता में ही प्रवेश पा जायगा। यदि अभी तेरे में अपने चित्त को इस तरह योग समाधि में ले जाने की सामर्थ्य नहीं है, तब तू इसी के लिए योगाभ्यास करना आरम्भ कर दे। यदि

तू अपने को योगाभ्यास करने में भी असमर्थ पाता है तो मुझे अपना प्राणप्रिय मानकर मेरे प्रेम में अपने को खो दे, अपना जीवन अपने सभी कर्म मेरी पूजा में समर्पित कर दे, ऐसा करने से भी तुझ में योग सिद्धि प्राप्त करने की सामर्थ्य आ जायगी। और यदि यह भी नहीं कर सकता तब आत्मशुद्धि के लिए शास्त्र-विहित यज्ञ, दान तथा तपादि कर्म कर और उनके फल को मुझे समर्पण करता जा। इस तरह निश्चित ही तेरा चित्त शुद्ध होता जायेगा और शनैः शनैः तुझ में योग सिद्धि पाने की सामर्थ्य आ ही जायगी। अतः तुझ में जैसी भी सामर्थ्य हो, बिना किसी बहाने के योग मार्ग पर खड़ा हो हो जा, जीवन की सफलता निश्चित है।

बस, यही तो हमारे गुरुदेव भी पुकार पुकार कर समझा रहे हैं।, योग मार्ग में आने के लिए हमें ललकार रहे हैं, कुछ करो न करो प्रभु के दरबार में आकर खड़े तो हो जाओ। वह आनन्दकन्द प्रभु अपनी करुणामयी बाहों में समेट लेने के लिए न जाने कब से प्रतीक्षा कर रहे हैं।

—❀ वचनामृत ❀—

संकलनकर्ता श्री दर्शनानंद

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि—
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।।

—लंका को जीतना था, समुद्र को पैदल पार करना था, रावण बैरी था, रणभूमि में वानर सहायक थे, फिर भी अकेले राम ने समस्त राक्षस-कुल का संहार कर डाला। महापुरुषों की कार्यसिद्धि साधनों पर नहीं, उनके आत्मबल पर निर्भर करती है।

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो,
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं,
महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम् ।।

—पवन मृदु, क्षुद्र तथा सब प्रकार से झुके हुए तृणों का उन्मूलन नहीं करता। श्रेष्ठ चित्तवालों का यह स्वाभाव ही है कि बड़े लोग बड़ों से ही विक्रम दिखाते हैं।

द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायो द्वितयोऽपि ते चलाः ।

—यदि वायु से वृक्ष और पर्वत दोनों ही चलायमान हो जायं तो उनमें फिर अन्तर ही क्या रहेगा?

वन्दना

श्री डा० हरिशंकर शर्मा

हे मंगलमय भगवान जगत के त्राता,
हे विश्वनाथ, विश्वम्भर, विश्व-विधाता
तू जीवों का कल्याण-त्राण करता है,
जन-मन में शुभ-सद्भाव सदा भरता है।

× × ×

तू सकल सृष्टि का सार आदि कारण है,
ब्रह्माण्ड तुझी ने किया धन्य धारण है
कर्ता, धर्ता, संहर्ता एक तुही है,
गौरव-गरिमा अणु-अणु में गूंज रही है

× × ×

तू माता, पिता, मित्र, भ्राता, त्राता है
तू विद्या, बल, धन, धाम, धर्म-धाता है
तू देवों का भी देव दिव्य दाता है
वह 'नेति-नेति' ज्ञानी गुण-गण गाता है

× × ×

तू शरण-दान दे भद्र भाव उमगाता
विज्ञान-भानु से मोह महान् मिटाता
तू करुणासागर, अविनाशी, अक्षर है
तू सर्व श्रेष्ठ, प्रभु, अविचल, अजर, अमर है

× × ×

है सत्य नाम ईश्वर तेरा सुखदायी
सत की महिमा ने परम प्रतिष्ठा पायी
जब अटल अहिंसा भाव जन्म लेता है
तब सत्य-रूप प्रभु, तू दर्शन देता है

× × ×

प्रभु, सचराचर का एक तुही त्राता है
तू विश्व-विधायक प्रेम-दया दाता है
जो शुद्ध भाव से तुम को अपनाते हैं
वे निश्चय ही मनमाना सुख पाते हैं

× × ×

तू मार्ग-प्रदर्शन की विधि बतलाता है
जन-जीवन में सुविधा-शृंखला लाता है
वाणी मनीषियों की पवित्र करता है
कवियों की प्रतिभा में प्रकाश भरता है

× × ×

तू भक्तों में परितोष दिया करता है
पीड़ित हृदयों की पीर तुही हरता है
तू करुणाकन्द, विधाता, परिपालक है
तू न्याय-निधान सृष्टि का संचालक है

× × ×

तू सत्य-शील-संरक्षक बल-दाता है
प्रभु, असत् भाव तुझको न कभी भाता है
तू सदा सत्य की जय करता रहता है
अघ अनृतभ्रम को क्षय करता रहता है

× × ×

तू वर वैभव-सम्पन्न मान-गरिमा है
अणु-अणु कण-कण गाते तेरी महिमा है
बल-विक्रम तेज-ओज तुझ से पाते हैं
तेरी छाया से अशुभ भग जाते हैं

× × ×

प्रभु, तुही गर्भ में भोजन पहुँचाता है
निज करुणा से जन्माता-पनपाता है
हम धराधाम पर प्रभु, जिस क्षण आते हैं
उस से पहले ही क्षीर-सिन्धु पाते हैं

जब तुझे जानकर मैं सत्य मार्ग अपनाते हैं
अभिमान-पाप से दूर सदा रहते हैं
ईर्ष्या जो करता तुझको किन्तु पापकारी है
वह दम्भी-दुष्ट, सत्य-सुविधा-हारी है

× × ×

कष्टों से कम्पित जब जो जन आता है
तेरे चरणों में शरण सदा पाता है
तू करुणाकर तब अभय दान देता है
शरणागत के सब संकट हर लेता है

× × ×

सर्वत्र व्याप्त अद्भुत-अपार माया है
सचराचर में छाई तेरी छाया है
गुण-अवगुण तुझ से नाथ, न छिप पाते
सब के शुभ कर्म्म-कुकर्म्म दृष्टि आते

× × ×

फिर कहाँ छिपें और कैसे पाप छिपाएँ
तू सर्वव्यापक सब में तुझको पाएँ
तू ज्ञान-दान दे हृदय विशुद्ध बनादे
घट-घट में अपनी उज्ज्वल ज्योति जगादे

× × ×

जैसे विचार वैसी जीवन की छाया
जैसी छाया वैसी कर्मों की माया
शुभ-सद्विचार संचार नाथ, तू करदे
हिय में विशुद्धता मन में शुचिता भरदे

× × ×

जिन-जिन से हम भयभीत सदा रहते हैं
जिनके कारण संकट सदैव सहते हैं
वे शत्रु, शत्रु या भाव नष्ट हो जाएँ
हम पतित-पावनी आनन्द-गंग में न्हाएँ

× × ×

तव गरिमा-गायन को न शब्द पाते हैं
हो प्रेम-विभोर विनय से झुक जाते हैं
ये पुष्प-लताएँ हँस-हँस फूल रही हैं
भगवान-भक्ति में कोई भूल रही है

× × ×

खग मृग प्रमुदित हो चाह चहचहाते हैं
तेरी महिमा पर हँसते-हर्षाते हैं
कीट-कुंजर सब ही की सुधि लेता है
तू विश्वम्भर, सब को भोजन देता है

× × ×

सागर, तड़ाग, वन-उपवन गुण गाते हैं
नद-नाले-निर्झर गाथा कह जाते हैं
पर्वत-मालाएँ मूक ध्यान धरती हैं
नदियाँ नित नत रह कर प्रणाम करती हैं

× × ×

मानव तो सचमुच अनुपम आराधक है
तेरी विभुता का सर्वोपरि साधक है
इस ने तू भक्ति-भाव से अपनाया है
निज ज्ञान-शक्ति से प्रभु, तुझको पाया है

× × ×

तू तेजस्वी है, तेजदान कर हमको
तू वीर्यवान है, बल प्रदान कर हम को
तू है समर्थ भगवान, भक्ति दे हमको
तू सहनशील है, सहन-शक्ति दे हमको

स्वरोदय की महत्ता

(❀ श्री रामप्यारेजी अग्निहोत्री)

प्राणीमात्र के लिये स्वर ही जीवन है और स्वरावरोध ही मृत्यु है। जीवन में जो कुछ होता है, वह संसार के लिये प्रत्यक्ष है। उसकी आलोचना, प्रत्यालोचना, और समालोचना—दृश्य जगत् में सभी कुछ की जाती है; किन्तु मृत्यु के बाद क्या होता है, बहुत ही रहस्यात्मक है। तात्त्विकों एवं साधकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से इस पर विचार किया है। मृत्यु अवश्य ही एक रहस्य है, जिस पर आजकल के विज्ञान का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी से भगवान् की अदृश्य शक्ति का अनुभव होता है।

स्वरोदय का प्रकरण शिशु की गर्भावस्था से प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त चलता है। जीवन में स्वर की प्रक्रियाओं का किस प्रकार समय-समय पर परिवर्तन होता है और फिर वही परिवर्तन स्वरावरोध में किस प्रकार परिवर्तित होता है; यह भी परम गोपनीय विषय है, जिसके अध्ययन और मनन की प्रक्रियाएँ कौतूहल-सी प्रतीत होती हैं। स्त्री और पुरुष के स्वर-संगम के प्रभाव से पुत्र-पुत्री का किस प्रकार जन्म होता है, यह एक अभ्यास और अनुभव का विषय है, जिस पर मानव कभी असफल नहीं होता।

माँ के गर्भ से धरती पर गिरते ही स्वर परीक्षण की आवश्यकता होती है। जिस समय शिशु-प्रसव होता है, माँ भी प्रसव-पीड़ा से कातर हो जाती है और बाहर निकलने के प्रयत्न में शिशु भी श्रमित हो जाता है। श्रमता के कारण माँ और शिशु दोनों की स्वर-प्रवाहिनी नलिकाएँ जोर-जोर से स्फुरित होने लगती हैं। प्रसव के बाद लगभग एक घण्टे तक माँ और शिशु के स्वर प्रवाह में अन्तर नहीं पड़ता। प्रसव के बाद यदि माँ और शिशु—दोनों के चन्द्र स्वर प्रवाहित होते हों तो शिशु दीर्घजीवी होता है। साथ ही मेधावी और माता-पिता को सुख देने वाला होता है। यदि दोनों के सूर्य स्वर प्रवाहित होते हों तो बच्चा तेजस्वी, तपस्वी, परोपकारी और नेतृत्व-शक्तिवाला होता है। यदि माता और शिशु दोनों के शिवस्वर प्रवाहित होते हों तो शिशु अल्पजीवी होता है और माता अधिक कष्ट का अनुभव करती है। यदि माता का चन्द्रस्वर और शिशु का सूर्यस्वर प्रवाहित हो तो शिशु बड़ा होने पर कुल परम्परा के विपरीत कार्य करता है। साथ ही वह लम्पट और आदि होता है। प्रसवकाल में यदि माता का सूर्य स्वर और शिशु का चन्द्रस्वर प्रवाहित हो तो शिशु महान् पराक्रमी होता है। बड़ा होने पर वह विदेशों की भी यात्रा करता है।

यदि प्रसवकाल में माता और शिशु दोनों

के शिवस्वर चलते हों तो दोनों का जीवन अत्यन्त संकटमय हो जाता है। इसमें या तो माता का स्वर्गवास हो जाता है या शिशु का और कभी-कभी दोनों का। माता का शिव स्वर और शिशु का चन्द्रस्वर प्रवाहित होता हो तो शिशु कौमारावस्था में स्वर्गवासी होकर अन्य योनियों में पुनर्जन्म ग्रहण करता है और यदि माता का शिवस्वर और शिशु का सूर्यस्वर चलता हो तो शिशु युवा अवस्था आते-आते स्वर्गवासी होकर पुनः मनुष्य योनि में पुनर्जन्म ग्रहण करता है और उसे अपने पूर्व जन्म की स्मृति बनी रहती है तथा उसका विकास कौमारावस्था से ही होने लगता है। यह स्मृति ज्यादा से ज्यादा बीस वर्षों तक रहती है। बीस वर्ष पहुँचते-पहुँचते या तो स्वर्गवासी हो जाता है या उसकी पूर्व जन्म की स्मृति नष्ट हो जाती है। वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने पर भी स्मृति जाती रहती है।

'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।'

(गीता ५।१३)

शरीर नौ द्वारोंवाला होता है। नौ द्वारों में दो आँख, दो कान, दो नासिकाछिद्र, मुख, गुदा और लिङ्गद्वार होते हैं। इनसे अन्दर की वस्तुएँ बाहर निकलती हैं। केवल मुख ही एक ऐसा द्वार है जिससे स्वाभाविक रूप से बाहर की वस्तु (खाद्य-पेय पदार्थ) अन्दर जाती है। प्राणवायु अन्तिम समय में इन्हीं किसी एक द्वार से बाहर निकलती है और शरीर निष्प्राण हो जाता है। अन्त समय में प्राणवायु जिस द्वार पर अवरुद्ध हो जाती है, उसी द्वार से बाहर भी निकलती है। कभी-कभी अन्तिम समय में प्राणवायु नवों द्वारों से हटकर ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाती है और ब्रह्माण्ड को फोड़कर बाहर निकलती है। ऐसा साधकों, तपस्वियों को ही सुलभ होता है। प्राणवायु जब ऊर्ध्ववायु का रूप ग्रहण कर शरीर से निकली है, तब उसका पुनर्जन्म उत्तम प्राणी की योनि में होता है और जब प्राणवायु अधोवायु का रूप ग्रहण कर शरीर का परित्याग करती है, तब उसका पुनर्जन्म नीची योनि में होता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण ने पुनर्जन्म पर बहुत कुछ कहा है।

भगवान् के कथन से पुनर्जन्म का होना निर्विवाद सिद्ध है किन्तु कुछ ऐसी अवस्थाएं अवश्य होती हैं, जब कि मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। इसके लिये ब्रह्मप्राप्ति का साधन ही सर्वश्रेष्ठ है। मस्तिष्क में रुकी हुई प्राणवायु जब नेत्रमार्ग से बाहर निकलती है, तब उसका पुनर्जन्म मनुष्य योनि में ही होता है और उसकी पूर्व स्मृति बराबर जाग्रत् रहती है। जिस नेत्र से प्राणवायु का बहिर्गमन होता है, वह नेत्र कुछ अधिक बड़ा और विस्फारित-सा हो जाता है। इसी तरह जिस नासिका-छिद्र से प्राणवायु बाहर

निकलती है। उसी ओर नाक टेढ़ी हो जाती मुख से प्राणवायु निकलने पर मुख एकदम फटकर भयावना हो जाता है। जिस कर्ण-मार्ग से प्राणवायु शरीर से बाहर निकलती है, वह कान दूसरे की अपेक्षा शीघ्र ही सख्त और टेढ़ा हो जाता है। मल और मूत्र द्वार से प्राणवायु के गमन करने पर मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय की भी यही दशा हो जाती है, किन्तु जब ब्रह्माण्ड फोड़कर प्राणवायु का गमन होता है, तब मृतक की बड़ी ही आकर्षक आकृति हो जाती है। उसकी सौम्यावस्था सुप्तावस्था सी प्रतीत होती है। ऐसा सौभाग्य ज्ञानियों, भक्तों और महात्माओं को ही प्राप्त होता है। ऐसे प्राणी का पुनर्जन्म नहीं होता।

'विराट् पुराण' में चौरासी लाख योनियों का वर्णन आया है। वहाँ स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उदरवीर्य योनि—श्रेणियों में विभाजित कर हरएक की संख्या इक्कीस लाख निरूपित की गयी है। स्वेदज योनि में ताराओं की संख्या नौ लाख मेघ चार लाख और पहाड़ आठ लाख वर्णित किये गये हैं। अण्डज योनि में नाग नौ लाख, जलचर प्राणी चार लाख और पक्षी आठ लाख तथा जरायुज योनि में दोपदे नौ लाख, चौपदे चार लाख और कीड़े-मकोड़े आठ लाख परिगणित किये गये हैं। उदरवीर्य योनि में निर्गन्ध पौधे नौ लाख, सुगन्ध चार लाख और कन्द-मूल आठ लाख की संख्या में निरूपित किये गये हैं, जिनका बहुत बड़ा विश्लेषण है। किसी-किसी ने चौरासी लाख योनियों को सोलह लाख सत्त्वगुणी, बत्तीस लाख रजोगुणी और छत्तीस लाख तमोगुणी बतलाया है। और भी कई प्रकार से ८४ लाख योनि का वर्णन मिलता है। वास्तव में जीव-योनि एक रहस्यात्मक विषय है और इसका सम्बन्ध पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म है। पुनर्जन्म का विषय भी असाधारण है।

स्वरोदय का ज्ञान दर्पण की भाँति स्वच्छ और निर्मल है। सांसारिक प्राणियों का पुनर्जन्म अवश्य होता है, यह विषय भी निर्विवाद है; किन्तु किस योनि में पुनर्जन्म होता है, इसका ज्ञान स्वरोदय से प्राप्त किया जा सकता है। नासिका छिद्र से प्राणवायु चन्द्रस्वर, सूर्यस्वर और शिवस्वर के माध्यम से बाहर निकलती है। इन स्वरों में अग्नि अथवा वायुतत्त्व मिले होने से प्राणवायु ऊर्ध्व श्वास का रूप ग्रहण करती है। अग्नितत्त्व से संयुक्त यदि प्राणवायु चन्द्रस्वर के मार्ग से प्रयाण करती है तो जीव को प्रेत योनि प्राप्त होती है और यदि सूर्य स्वर के मार्ग से प्राणवायु का निष्क्रमण होता है तो भी जीव को विकृत योनि यानी भूत-पिशाच की योनि ही प्राप्त होती है। वायु तत्त्व से मिश्रित प्राणवायु के निकलने पर जीव को अलायु योनि मिलती है; कीड़े-

पक्षियों आदि वायु में उड़ने वाले प्राणियों में जीव का पुनर्जन्म होता है। जलतत्त्व से युक्त प्राणवायु के प्रयाण करने पर जलचर योनि प्राणियों में जीव का पुनर्जन्म होता है। पृथ्वी तत्त्व से मिली हुई यदि प्राणवायु चन्द्र-स्वर के मार्ग से शरीर का परित्याग करती है तो मनुष्य योनि में ही पुनर्जन्म प्राप्त होता है और जीव को अपनी पूर्व-स्मृति बनी रहती है; किन्तु यदि प्राणवायु पृथ्वीतत्त्व से युक्त सूर्यस्वर के मार्ग से प्रयाण करती है तो जीव को पशु योनि में जाना पड़ता है। इसी प्रकार आकाश-तत्त्व से मिश्रित प्राणवायु के गमन करने पर या तो पुनर्जन्म होता ही नहीं और यदि होता है तो वह गर्भावस्था में ही विनष्ट हो जाता है।

इस तरह स्वरोदय के माध्यम से प्राणवायु के निष्क्रमण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्त हैं, जिनसे जीव के पुनर्जन्म का रहस्य स्पष्ट होता है। जिस प्रकार मनुष्ययोनि में पुनर्जन्म प्राप्त होने पर कभी-कभी प्रारब्धवश पुनर्जन्म प्राप्त होने पर पुनर्जन्म की स्मृति बनी रहती है, उसी प्रकार प्राणवायु के शरीर परित्याग करने के पहले भावी योनि का भी ज्ञान किसी किसी जीव को हो जाता है और यदि स्वस्थावस्था में प्राणवायु के निकलने का समय निकट आ जाता है तो मनुष्य भावी योनि का पूरा वृत्तान्त भी स्पष्ट कर देता है। इस तरह पुनर्जन्म बड़ा ही गोपनीय और रहस्यात्मक विषय है, जिसका ज्ञान स्वरोदय के माध्यम से सहज ही प्राप्त हो जाता है; किन्तु मृत्यु-काल में स्वरोदय की परीक्षा भूल जाती है और प्रश्नकर्ता की प्रवृत्ति करुणावस्था में परिवर्तित हो जाती है। मरनेवाले प्राणी की स्वर-परीक्षा अन्य व्यक्ति को, जो स्वरोदय का ज्ञाता हो, करनी चाहिये। इसी तरह प्रसवकाल में भी स्वर-परीक्षा दूसरे के द्वारा ही सम्भव है।

❀ गणित प्रज्ञा ❀

मानसिक गणित का क्षेत्र मानवीय मस्तिष्कपटल है। 'बुद्धि, ज्ञान और प्रज्ञा' पर्यायवाची शब्द हैं। इस न्यायानुसार जो निपुणता तेजोमय होती है वह मानसिक गणित प्रज्ञा कहलाती है।

निम्नस्तरीय वैदिक गणित से "वाणी" और गणित का सिद्धान्त से ऐक्य स्थापित किया जा सकता है। इस तरह गणित बोलचाल की भाषा बन कर सामने आता है। आज पाश्चात्य वैज्ञानिक-जगत् जो कि बोल-चाल वाले संगणक की दिशा में अनुसंधान में जुटा हुआ है वह वास्तविक रूप में इसी क्षेत्र में अनुसंधान का प्रयास है। इस गणित से मानववाणी से वार्तालाप करने वाले संगणक की संगठन-रचना प्राप्त की जा सकती है। शब्द ब्रह्म और अक्षर ज्ञान विज्ञान इसी क्षेत्र में प्रज्ञामय होते हैं।

दीर्घ-जीवन के अवरोधक कुछ दोष

❀ —श्री विजयकार्तिकेय—

शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार मनुष्य की आयु की सीमा सौ वर्ष है। जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्, जैसा वेद मन्त्र भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है। इतना ही नहीं यह वेद मन्त्र इस सत्य का भी उद्घाटन करता है कि हम न केवल सौ वर्ष तक अपनी सभी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति सहित जीने के अधिकार की याचना प्रभु से करते हैं अपितु इसके आगे भी पुनः इसी प्रकार सौ वर्ष तक और जीने का अधिकार भी अर्जित करना चाहते हैं। यजुर्वेद का यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है:—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः
शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च
शरदः शतात् ।

(य० अ० ३६, मं० २४)

अर्थ इसका इस प्रकार है—जो ब्रह्म सब का द्रष्टा परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व पश्चात् और मध्य में अपने सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता है तथा सबको धारण करने वाला है उसी ब्रह्म को हम सब सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें और उसी का प्रवचन करें और अदीन होकर अर्थात् स्वावलम्बन पूर्वक आयु को व्यतीत करें एवं इसके पश्चात् भी इसी प्रकार फिर सौ वर्ष तक जीवित रहें।

किन्तु होता प्रायः यह है कि मनुष्य अपनी आयु के प्रथम सौ वर्ष भी पूरे नहीं कर पाता। दूसरे सौ वर्ष तक जीने की तो बात ही अलग है। पहले सौ वर्षों का सम्यक् जीवन भी सबल स्वस्थ इन्द्रियों और दृढ़ मन के साथ विरले सौभाग्यशाली पुरुष ही जी पाते हैं अन्यथा अधिकांश तो सौ वर्ष की आयु की सीमा रेखा तक पहुँचने से बहुत पहले ही चल बसते हैं।

ऐसा क्यों होता है? क्यों हम अपना ईश्वर प्रदत्त सौ वर्ष तक अथवा इससे भी आगे सौ वर्ष तक और जीने के अधिकार से वंचित रह जाते हैं?

शास्त्रकार इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि मनुष्य अपने निर्धारित, शास्त्र मर्यादानुकूल कर्मों को सम्पादित न करने के कारण ही अपनी उस आयु को प्राप्त नहीं कर पाता जो उसके लिए निर्धारित की गई है। योग-दर्शन के सूत्रकार भगवान पतञ्जलि-देव भी इसी सिद्धान्त के पक्ष धर हैं। साधन-पाद के सूत्र संख्या १३ में वे कहते हैं:—

सति मूले तद् विपाको
जात्यायुर्भोगाः ।

योग-दर्शन—सा० २

अर्थात् कर्म विपाक के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य को जाति, आयु और भोग की प्राप्ति होती है।

चूँकि प्रत्येक मनुष्य के कर्म अपनी-अपनी रुचि वैचित्र्य के कारण अलग-अलग ढंग के हुआ करते हैं इसलिये उनके फल भोग भी जाति आयु आदि के रूप में अलग-अलग प्रकार के हो जाते हैं। कर्म करने में जीव को स्वतन्त्रता प्राप्त है किन्तु फल भोग में विधि-विधान के अनुसार वह परतन्त्र रहता है। उसके शुक्ल-अशुक्ल कर्म ही उसको प्रारब्ध का निर्माण करके उसे सुख-दुःख जन्म-मरण उत्थान-पतन के आवर्तों में ला पटका करते हैं। जाति आयु भी इसी हमारी प्रारब्ध के आधार पर निर्धारित होकर हमारे पल्ले पड़ जाया करते हैं। भगवती श्रुति का इसीलिए यह कथन है कि हे मनुष्य तू इस संसार में करने योग्य शुभ कर्मों को जो वेदानुकूल हों करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। यथाः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजी-
विषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति
न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करें, एवं इससे भिन्न कोई अन्य रास्ता नहीं है। ऐसा करते हुए तुझे कर्म लिप्त नहीं होते।

इस मन्त्र से दो अर्थ स्पष्ट होते हैं। एक तो यह कि मनुष्य जीवन कर्म प्रधान होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक कर्म परायण बना रहना उसका स्वाभाविक धर्म होता है। निष्क्रियता का जीवन उसे निष्प्राण, निरुत्साही और रोगी बना डालता है। इसलिए कर्मों से संन्यास कभी नहीं लेना चाहिए। दूसरा संकेत मन्त्र से यह मिलता है कि कर्म की परिभाषा में वे कर्म ही आते हैं जो वेदोक्त और शास्त्रीय मर्यादा के भीतर रहकर किये जाते हैं। कर्म लिप्यमान तभी नहीं होते जब वे निष्काम भाव से किये जाते हैं। निश्चय ही ऐसे कर्म मनुष्य को दीर्घजीवी बनाते हैं। योग-दर्शन के अनुसार यह सब कर्म शुक्ल कर्मों की परिभाषा में आते हैं प्रतिकूल इसके सकाम भाव से किये गये कर्म मनुष्य के बंधन और दुःख का कारण बनकर उसे चिन्तातुर बनाये रहते हैं और चिन्ता स्वस्थ तथा दीर्घजीवन व्यतीत करने में सबसे बड़ी बाधा बनकर उभरती रहती है।

दीर्घ जीवन का दूसरा अवरोधक दोष होता है मनुष्य का दोष पूर्ण आहार। इस सम्बन्ध में मनुष्य को आहार विहार भगवान कृष्ण के अनुसार सर्व विधि सात्विक और नियमित होना चाहिए। आहार विहार की अमर्यादित वृत्ति भी मनुष्य की आयु को क्षीण करने वाला प्रमुख दोष होता है।

काम, क्रोध, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि भी ऐसे दोष हैं जो मनुष्य की जीवन डोरी को सदा अपने तेज दांतों से काटते रहते हैं। काम एवं क्रोध ऐवं रजोगुण समुद्भवा की उक्ति के अनुसार इनसे बचने का उपाय एक मात्र यही होता है हम सब अपनी वृत्तियों को सतोगुण प्रधान बनाने का सतत् अभ्यास करते रहें। मन और बुद्धि ही इनके आवास स्थान हैं अतः हमारा कर्तव्य हो जाता है कि अपना मन और बुद्धि हम सदा लोक-कल्याण और परमात्म चिन्तन में लगाये रहें अथवा निरंतर स्वाध्यायशील बने रहने का स्वभाव बनालें। वेद का भी आदेश है कि अगर हम अपने-अपने मनों में शिव संकल्प की भावना भरते रहेंगे तो कुविचार और दुर्व्यसनों से सदा बचे रहेंगे। मन को कुविचारों से भरे रखना भी एक ऐसा महान दोष है जो हमें दीर्घजीवी और आनन्दित बनाये रखने में एक बड़ा अवरोधक बना रहता है। इसके निवारण के लिए योग-दर्शन के समाधिपाद के ३३ वें सूत्र के आधार पर हमें अपना व्यवहारिक जीवन बनाना चाहिए जिसे भगवान पतञ्जलि ने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है।

मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षाणां, सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनात चित्त प्रसादनम्।

अर्थात् सुख-दुःख पुण्य पाप वाले व्यक्तियों के प्रति मैत्री, दया, हर्ष और उपेक्षा की भावना रखते हुये चित्त को निर्मल और प्रसन्न रक्खे।

निश्चय ही चित्त की प्रसन्नता सब दुखों का दलन करने वाली होती है जैसाकि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है :

प्रसादे सर्व दुःखानां
हानिरस्योपजायते।

जो चित्त को निर्मल और प्रसाद गुण से सम्पन्न रखने की कला जानते हैं वे दीर्घ और स्वस्थ जीवन जीने का सुख सहजतया प्राप्त कर लेते हैं।

यह भी हमें भूलना नहीं चाहिए कि योग-दर्शन में जिन यम और नियमों का पालन करना योग-मार्ग का अनिवार्य अङ्ग बतलाया गया है—वे भी दीर्घ और स्वस्थ जीवन को आधार मिला है। इनकी उपेक्षा करके न तो समाधि सुलभ हो पाती है और न स्वस्थ तथा दीर्घ-जीवन ही मिल पाता है। योगी इन सब यम-नियमों का पालन करते हुए ही तो—दीर्घ काल तक समाधि सुख का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करते रहे हैं।

यम-नियमों के प्रतिकूल-जो आचरण होता है—वह भी दीर्घ आयु का अवरोधक आचरण ही कहा जायगा। अतः दीर्घजीवी होने के लिए-दोष-पूर्ण अशास्त्रीय आचरण से सदा बचने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

✲✲✲

योग और युवा शक्ति

❀ श्रीमंगलदास, साधु आश्रम, होशियारपुर

राष्ट्र या समाज के सर्वतोमुखीन विकास में युवा शक्ति का कितना अधिक एवं मूल्यवान स्थान है यह किसी से भी छुपा नहीं है। विनाश एवं निर्माण इन दोनों दिशाओं में इसकी शक्ति संचालित होती है। इन दोनों क्षमताओं का उपयोग इस बात पर निर्भर है कि युवासमाज का किस रूप में निर्माण किया जारहा है। निर्मित युवा ही निर्माण करता है। इसलिए इसके निर्माण की योजना क्या मात्र शरीर पर आधारित है अथवा शरीर में रहने वाले चेतना का भी योग-दान है। यदि शरीर पर ही युवाशिक्षित किया जारहा है तो निश्चित है उसकी ऊर्जा केवल शरीर के लिए ही कार्य करेगी। राष्ट्र या समाज में आत्मा उस के शासन में नहीं रहेगी। और यदि आत्मा ही न रही तो इस स्थिति में समाज या राष्ट्र मृत ही कहा जायगा। राष्ट्र या समाज का सारा नियम गलत होगा जिससे विनाश गृह युद्ध जैसी स्थिति आ सकती है। आज हमारा राष्ट्र कुछ इसी परिधि में बढ़ा चला रहा है। चारों ओर विनाश हिंसा पीड़ा जैसी भयंकर स्थिति इस धर्म प्रधान राष्ट्र में दिखाई दे रही है। और आश्चर्यकी बात है कि इसके पीछे शिक्षित युवकों का हाथ है। यह इसका प्रमाण हैकि युवाशक्ति का निर्माण या शिक्षण सही ढंग से नहीं किया जारहा है। अन्यथा कृतज्ञता के बजाय यह कृतघ्नता की विभीषिका क्यों दिखाई देती। युवा के शिक्षण एवं निर्माण में एक चीज की नितान्त कमी है वह है योग का बोध। योग ऐसी प्राचीन प्रणाली है जो शरीर के साथ आत्म धर्म जैसी व्यापक सत्ता में भी आस्था एवं साक्षात्कार की योग्यता पैदा करती है। युवा शरीर तल पर जैसे शिक्षित होगा वैसे आध्यात्म तल पर भी। अतः वह समाज का नेतृत्व अच्छी तरह कर सकता है। किसी सिद्धान्त या शास्त्र के सम्बन्ध में किसी का विरोध तो हो सकता है किन्तु योग का विरोधी कोई नहीं। जैन, बौद्ध, ईसाई, इसलाम आदि जितने भी मत है सभी इसके पक्ष मे है। योग परमात्मा के मिलने का उपाय है। बिना इसका सहारा लिए कोई इसका अनुभव नहीं कर सका है चाहे मुहम्मद हो ईसा या महावीर। अतः सभी को चाहिए कि योग की प्रणाली से युवा शक्ति को जागृत किया जावे। शारीरिक एवं मानसिक शिक्षण के लिए राष्ट्रीय सहायता से योग केन्द्र खोले जाय तथा पाठ विधियों में कुछ इस सम्बन्ध की पुस्तकें भी पढ़ाई जाए जिससे युवा शक्ति को अपनी खोई शक्ति प्राप्त करने में सहायता मिले। इस उपयोगी योजना से धार्मिक एकता के साथ सामाजिक एवं सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता का भी जन्म हो सकेगा। उपाय होते हुए भी कुछ नहीं किया जा रहा यह एक चिन्तनीय एवं खेद का विषय है। युवा बेलगाम घोड़े की तरह मनवाञ्छित चला जा रहा है जिस से अनिष्ट की सम्भावना अधिकाधिक नजर आ रही है।

गृहस्थ जीवन और योग-साधना

❀ श्री धर्मेन्द्र कुमार गौतम

योग-साधना जीवन के लिए उपयोगी है। यह तो प्रायः सभी जानते और मानते हैं। किन्तु अनेक भाई-बहन जो गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहे होते हैं प्रायः यह कहते भी सुने गये हैं कि योग-साधन उपयोगी और लाभप्रद होते हुए भी हम गृहस्थ लोग इसे इसलिए पूर्णतया नहीं अपना पाते कि घर गृहस्थी के कार्यों का ताना, बाना हमें इतना समय नहीं दे पाता कि हम उससे पीछा छुड़ाकर इस में अपना उपयुक्त समय दे सकें। प्रातः से लेकर सायंकाल या इससे भी आगे रात्रि में सोने के समय तक इतने झंझटों से भरा हुआ कार्यक्रम रहता है कि साधना के लिए नियमित और निर्धारित समय दे पाना अति दुर्लभ ही रहता है। जब इस लोक साधना ही हम नहीं कर पाते तब परलोक साधना को कैसे साधें।

गृहस्थ आश्रम में रहने वाले कतिपय भाई-बहनों का यह तर्क अर्थहीन ही प्रतीत होता है। योग मार्ग की साधना तो सार्वभौमिक और सार्व कालिक साधना है। इसे सर्वत्र सर्व काल और सभी प्रविधाओं में किया जा सकता है। घर गृहस्थी के झंझटों में व्यस्त रहकर साधना के लिए समय न निकाल पाने का तर्क वे ही लोग दिया करते हैं जिन्हें अपने जीवन के उद्देश्य और ध्येय का कुछ पता नहीं होता। जो लोग जीवन को केवल वासना और भोगों की पूर्ति का साधन मात्र समझते हैं उन्हें पाशव बुद्धि प्रधान लोग ही कहा जा सकता है।

मनुष्य-योनि ही एक मात्र ऐसी योनि है जिसमें पूर्व कृत कर्मों के भोग भोगते हुए प्राणी सद्विचार और सत्कर्मों का सम्पादन करके अपने इस वर्तमान जीवन को तथा इसके बाद आने वाले जीवन को क्लेशरहित बना सकता है। योग-साधना का उद्देश्य भी यही होता है कि मनुष्य योगी का जीवन व्यतीत करके उस अलौकिक सम्पदा को प्राप्त करले जिसके सहारे वह दुःख दैन्य से भरे हुए अपने लौकिक जीवन से निस्तार पा सके। जो लोग इस रहस्य को जान पाते हैं कि यह जीवन बड़े भाग्य से हमें मिला है और इसलिए मिला है कि अपना और लोक का कुछ भला कर सकें बिना एक क्षण भी व्यर्थ खोते हुए गृहस्थ-जीवन में से कुछ ऐसा समय निकाल लेते हैं जिसमें वे प्रभु स्मरण अथवा योग साधना का अभ्यास अपने सद्गुरु के निर्देशन में कर सकें। हमारे देश के आध्यात्मिक इतिहास में अनेक ऐसे योगी 'सिद्धयोगी' ऋषि और महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने गृहस्थाश्रम धर्म का निर्वाह करते हुए ही ऊँची से ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त की। याज्ञवल्क्य

और उनकी दो पत्नियों की कथा सब जानते ही हैं। राजा जनक ने अपनी उच्चतम् विदेह स्थिति अथवा गृहस्थाश्रम और राजकार्यों का निर्वाह करते हुए ही प्राप्त की थी। योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के जीवन का उदाहरण भी इसी प्रकार का है। फिर जिस अर्जुन को अपना प्रियतम सखा और शिष्य मानकर उन्होंने रण-क्षेत्र में उसे को योगोपदेश दिया था वह भी तो गृहस्थ आश्रमी ही था। श्री स्वामी रामकृष्ण ने अपनी योग साधना में अपनी पत्नी को ही अपना सम्बल बनाया था। अतः यह तर्क नितान्त विवेक शून्यता का ही तर्क कहा जा सकता है कि गृहस्थ के झंझट और उलझनों में योग साधना का विधिवत् पालन किया ही नहीं जा सकता। सन्त कबीर के अलौकिक योग ऐश्वर्यों का परिचय गृहस्थ में रहते हुए ही उन्होंने संसार को दिया था। स्वयं हमारे सिद्धयोगी गुरुदेवजी के सहस्राधिक ऐसे शिष्य समूह हैं जो गृहस्थ आश्रमी होते हुए भी अपनी उच्चतम् योग स्थिति प्राप्त किये हुए हैं। केवल निष्क्रियता का जीवन व्यतीत करने वाले किंकर्त्तव्य विमूढ़ व्यक्तियों का ऐसा ही चिन्तन रहता है कि गृहस्थ जीवन में योग साधना सम्भव नहीं हो सकती। प्रतिकूल इसके जिनमें थोड़ा बहुत भी विवेक है और जो जीवन के प्रति सदैव जागरूक रहते हैं तथा जो इस सत्य को भी जानते हैं कि—जीवन क्षण भंगुर है पानी का सा बुलबुला है—चाहे जब प्रवाह में चलते-चलते फूट सकता है—वे सदैव बिना एक क्षण भी खोये, गृहस्थ का पालन-पोषण करते हुए भी—योग साधना करने में कभी प्रमाद नहीं करते।

योग-साधना के लिए गृहस्थ में रहते हुए ऐसे दो समय नियत करलो कि जिस समय तुम्हारे हाथ में अधिक काम न हो। इसके लिये अति प्रातःकाल शाम को और रात्रि में दो बजे उपरान्त का समय नियत कर लेना ठीक होगा। इन दोनों समयों में प्रायः किसी को भी बहुत अधिक काम नहीं होता है। अपनी दशा के अनुसार घर की एक छोटी सी कोठरी या कुटिया नियत कर लो। वहाँ पर दूसरे लोगों का हर समय आना जाना न रहे। उस घर को खूब साफ रखो जिससे कि उसमें शुद्ध वायु आ-जा सके। अच्छे भाव और अच्छी रुचि को बढ़ाने वाली तस्वीरें उसकी दीवारों में लटका लो। योग-साधना के समय उस कुटिया में अगरबत्ती या धूप लगाओ। तब वहाँ बैठकर नियत समय पर योग-साधना का अभ्यास करो। पहले पहल भोजन आदि में कुछ कमी करनी पड़ती है। फिर साधना में कुछ आगे को बढ़ जाने पर बहुत अधिक करने की आवश्यकता नहीं रहती है। वृक्ष की पौधे की दशा में ही चारों ओर से बाड़ लगानी पड़ती है। बड़ा हो जाने पर बाड़ की कुछ आवश्यकता नहीं रहती है। साधना की पहली

अवस्था में सात्विक भोजन करना चाहिये। इसके लिये कुछ शुद्ध अन्न, दाल, घी, दूध, माखन और भाँति-भाँति के मौसम के अनुसार फल खावें। मत्स्य माँस, अंडा, प्याज, लहसुन का सेवन सदैव के लिये त्याग दें। बासी, जला, खट्टा, चटपटा बहुत खट्टा अधिक गरिष्ठ और भंग आदि मादक पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिए। चबैना न खावें। जल पान के समय सुखई कचौड़ी और छोले न खावें। अनेकों प्रकार के फल मूल मूंग की दाल आदि का परमित भोजन ही करें, ऐसा भोजन करने वाले का चित्त प्रसन्न और शरीर निरोग रहता है। सार यह है कि देश काल पात्र भेद से निर्दोष, स्वच्छ मधुर रस वाला चिकना (घी में तर किया हुआ और जो तीक्ष्ण न हो) ऐसा भोजन सेवन करें जिसके सेवन करने पर पेट फूल न जावे तथा किसी प्रकार की कष्टदायक दशा न हो जाय सौम्य दाल रोटी भाजी को प्रेम के साथ खावें। भोजन का यही नियम घेरण्ड संहिता में बताया है। जितनी भूख हो अनुमान से उसके चार भाग करके उसमें से आधा भाग अन्न से भरे एक भाग को जल दूध आदि तरल पदार्थ से भरे और एक चौथा भाग वायु के संचार के लिये खाली रखें। अधिक भ्रमण करना भी अच्छा नहीं होता है। अधिक बोलना भी अच्छा नहीं होता। प्रातः स्नान तो करना ही चाहिये। विदाहक पदार्थ तेल में बनाये हुए पदार्थ, हिंसा द्वेष कुटिलता, दम्भ दर्प, मिथ्या व्यवहार, मिथ्या आचरण, कुसंग, मोह प्राणियों को पीड़ा देना स्त्री संग, अग्नि से तापना अधिक लोगों के साथ बातचीत खाली बैठा रहना अप्रिय आचरण और अधिक भोजन करने वाले से योग-साधना नहीं हो सकती है क्योंकि वह शरीर के व्याकुल हो जाने के कारण चित्त और प्राण को रोक नहीं सकता तथा अजीर्ण होकर ज्वर आदि भी हो जाता है ऐसे ही केवल उपवास करने वाले से योग साधना नहीं हो सकती है, क्यों कि भूखे की चित्त वृत्ति एकाग्र नहीं हो सकती और उसका शरीर भी क्षीण होकर असमर्थ हो जाता है।

अधिक सोने वाला भी योग साधना नहीं कर सकता है। क्योंकि निद्रा तमोगुण को पैदा करती है। ऐसे ही एक अधिक जागने वाले से योग साधना नहीं हो सकती है। क्योंकि उस को योगाभ्यास करते समय अवश्य नींद आवेगी। तात्पर्य यह है कि योगी को अधिक विलास और कठोरता दोनों ही त्याग देनी चाहिए। उस का आहार विहार कर्म चेष्टा सोना और जागना सभी नियम से होना चाहिए। बहुत से ग्रन्थों को देखने की उलझनों में भी नहीं पड़ना चाहिए। केवल कार्य साधक सारभूत ज्ञान को पाने का ही उद्योग सद्गुरु देव जी की शरण में जाकर करें। क्योंकि बहुत सी बातों की जानकारी भी योग

में विघ्न डालती है। यह भी जान लूँ वह भी जान लूँ ऐसा करने से सहस्रों योग्य वाक्यों से भी ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए योग के साधक को ज्ञान तृष्णा में नहीं पड़ना चाहिए। ब्रह्मचर्य की रक्षा करने की बड़ी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है वीर्य को धारण करना। जिसका विवाह हो गया हो वह बड़े नियम के साथ केवल पुत्र के लिये स्त्री समागम करें क्योंकि यह काम शरीर मन और इन्द्रियों की शक्ति को घटाता है। इसलिये इस से दूर ही रहना चाहिए शरीर में जितनी भी धातुयें है उन सब का ही अन्त में वीर्य बनता है शरीर में यदि वीर्य अटल अचल रहता है तब इसी को ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा कहा जाता है। ब्रह्मचारी रहने पर मनुष्य चिरंजीवी, बुद्धिमान, तिलकवान विद्वान और परोपकारी, एक बात में कहूँ तो देव चरित्र होता है ब्रह्मचारी के शरीर में कोई रोग नहीं घुस सकता है। उस का शरीर पत्थर के समान दुर्भेद्य हो जाता है। और यदि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा न की जाय तो मनुष्य का शरीर रोगों का घर बन जाता है। अकाल मृत्यु आकर के ग्रस लेती है। इसलिये यदि योग क्रिया सीखनी हो तो इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। बहुत से लोग कहते हैं कि जो अभ्यास पड़ गया है उस का छूटना बहुत कठिन है। परन्तु यह बात नहीं है। जो एक बार गिर सकते हो दस दिन की प्रतिज्ञा भंग हो सकती है। यदि तुम्हारे मन में दृढ़ता होगी और चेष्टा करोगे तो पहला अभ्यास छूटकर अवश्य ही नया अभ्यास हो जायेगा उस अभ्यास के हो जाने पर पहिली पशु वृत्ति का फिर ध्यान भी नहीं आवेगा। उन बातों का प्रसंग छिड़ते ही घृणा होने लगेगी। मन को सदा पवित्र रखने का उद्योग करना चाहिये, हिंसा द्वेष मिथ्या बोलना इन बातों को सर्वथा छोड़ देना चाहिए। क्रम से अभ्यास करना होगा। मन बड़ा ही जबरदस्त है यह सदा इधर उधर को दौड़ने लगता है इसलिये इससे सावधान रहो। असत मार्ग में जाने लगे तो बलपूर्वक रोककर रखो। बहुत से लोग कहते हैं कि संसार में रहकर ऐसा करने से गृहस्थी का काम नहीं चल सकता। यह कहना महान भूल है। गृहस्थ जीवन में यदि मनुष्य सत्य भाषी जितेन्द्रिय हो और विशेष तृष्णा न करता हो तो तथा सद्गुरु देव जी के बताये हुये मार्ग पर चलने वाले को महाशान्ति धर्म यश तथा कीर्ति प्राप्त होता है।

लकड़ी के ठूँठ को आदमी तथा मृगमरीचिका को जल समझ लेने का जिस प्रकार भ्रम हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष देह को ही आत्मा मान लेता है।

—आचार्य शंकराचार्य

अलौकिक प्रभावकारी, श्री प्रभुजी का रजः प्रसाद

प्रेषक : श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी

मङ्गलचक्र गुरुचक्र और जगचक्र को एक साथ चलाने वाले, परम योग-योगेश्वर अपने दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज तथा अकारण दयालु अपने आराध्य श्री सद्गुरुदेव जी महाराज के युगल चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम के बाद उन्हीं की चरण शरण में घटित, रजःप्रसाद के विलक्षण प्रभाव की एक बोधपरक घटना का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है।

घटना वाराणसी जिले के ही अपने एक गुरुभाई से सम्बन्धित है। घटनाक्रम को उन्हीं के शब्दों एवं भावों में लिखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। घटनाक्रम से सम्बन्धित हमारे गुरुभाई शिक्षा विभाग के अन्तर्गत एक स्कूल में कार्यरत हैं। घटना आज से करीब दो वर्ष पूर्व की है। गर्मियों की छुट्टी में उन्होंने अपना परिवार अपने गृह जनपद बलिया जिले के अन्तर्गत एक देहात के गांव में भेज दिया था। उनके अपने परिवार में एक लड़का, उसके बाद दो लड़कियां तथा एक लड़का जिसकी अवस्था अभी मात्र दो साल की है; इस छोटे बालक का जन्म प्रभु कृपा से ही हुआ है। जिस समय की यह घटना है, उस समय ये श्री प्रभु चरणों में यद्यपि विधिवत् दीक्षा नहीं ग्रहण कर पाये थे, तथापि श्री चरणों में इनका अगाध प्रेम था। किसी किताब से श्री प्रभु जी तथा श्री महाप्रभु जी का स्वरूप मढ़वाकर ये दोनों समय विधिवत् आरती पूजन भी उसी समय से आरम्भ कर दिया था। गांव पर इनके पिताजी प्राइमरी स्कूल के अध्यापक हैं। गांव के परिवार में काफी सदस्य हैं, जिसमें एक डाक्टर भी हैं। घटना के समय इनका परिवार गांव में था तथा ये वाराणसी में थे। घटनाक्रम कुछ इस प्रकार घटित हुआ। गांव में इनके छोटे बच्चे की तबियत खराब हुई। घर के डाक्टर थे, अतः तत्काल दवा आरम्भ कर दी गयी। परन्तु दवा आरम्भ करने पर रोग घटने के बजाय बढ़ता ही गया। ज्यों ज्यों दवा की गई त्यों त्यों रोग बढ़ता ही गया। तत् पश्चात् घर के डाक्टर के अलावा दूसरे चिकित्सकों तथा अस्पताल की दवा कराई गयी परन्तु रंच मात्र भी लाभ नहीं हुआ। बच्चा छोटा था, कुछ बोल नहीं सकता था, अतः चिकित्सकों की समझ में यह बात अन्त तक नहीं आ सकी, कि बच्चे को रोग क्या है।

यह बच्चा बराबर रोता रहता था। एक बार थोड़ी देर के लिये जब उसे नींद आती थी तो रोना बन्द करता था, वरना रात दिन हमेशा रोता ही रहता था। अन्त में गांव के लोग दवा करते-करते परेशान एवं निराश हो गये। आखिर में इनके परिवार के सदस्यों तथा हितैषियों ने विचार किया कि वाराणसी चलकर इस बच्चे को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चिकित्सा विभाग में दिखलाया जाय, बच्चों के विशेषज्ञ चिकित्सक से। इस विचार को मन में पूर्ण रूपेण पक्का करके कि जो कुछ होगा, वही होगा, बच्चे की माँ अपने सभी बच्चों के साथ अपने श्वसुर (बच्चे के पिता के पिता अर्थात् बाबा) तथा अपने देवर को साथ लेकर अपने प्रतिदिन के निवास स्थान वाराणसी आ गई। जिस समय वे सभी लोग उनके निवास-स्थान पर गये, बच्चे के पिता श्री देवेन्द्र पाण्डेय जी कुछ कार्य-वश हमारे निवास पर आये थे। उनका निवास स्थान हमारे निवास स्थान के करीब है अतः उनका छोटा भाई जो और लोगों के साथ गांव से बच्चों को लेकर आया था, हाँफता हुआ हमारे निवास-स्थान पर आया। उसने कहा कि भैया, जल्दी चलिये, छोटे बच्चे की हालत काफी चिन्ता जनक है। उसकी हालत देखकर बच्चे की हालत का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता था। पाण्डेय जी तत्काल ही उसके साथ अपने निवास-स्थान पर चले गये। उनके चले जाने के बाद हम लोगों ने भी उनके घर चलने का विचार किया। श्री देवेन्द्र पाण्डेय हमारे हितैषियों में से है, अतः हम लोगों का यह फर्ज भी बनता था कि उनके निवास स्थान जाकर उनके बीमार बच्चे को देखा जाय। अतः अपने यहाँ आरती-पूजन करके भोजन के बाद हम लोग उनके निवास-स्थान पर गये। हम लोगों ने सुना था कि बच्चे की हालत चिन्ताजनक है, अतः अपने साथ आराध्यदेव का दिया गया परम अमोघ रक्षा प्रसाद भी थोड़ा सा साथ में हम ले गये थे।

श्री पाण्डेय जी के निवास स्थान जाकर हम लोगों ने जो दृश्य देखा, वह बड़ा ही कारुणिक था। श्री पाण्डेय जी के पिताजी इस अबोध शिशु को अपनी गोद में लेकर उसे शान्त करने का प्रयत्न कर रहे थे तथा वह अबोध शिशु बिलख-बिलख कर रो रहा है। उनके परिवार के सभी लोग नितान्त दुःखी थे तथा सबके चेहरे पर उदासी के भाव छाये हुये थे। हम लोगों के जाने के बाद वहाँ आरती-पूजन हुआ तथा संकोचवश मन से ही सब लोगों ने प्रसाद ग्रहण किया, इसके पश्चात् बच्चे को कब, किस डाक्टर से दिखाया जाय, इस विषय पर चर्चा आरम्भ हुई। सबकी राय से यह तय हुआ कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के शिशु रोग विशेषज्ञ से ही कल सबेरे बच्चे की चिकित्सा आरम्भ की जाय। वहाँ उपस्थित हमारे एक गुरु भाई ने यह

सलाह दी कि यूनीवरसिटी दिखाने से पूर्व अपने एक गुरुभाई डा० शुक्ला से जो होमियोपैथ के अच्छे चिकित्सक हैं, परामर्श ले लेना उचित होगा। अतः यही तय हुआ कि सवेरे सात बजे यात्रा आरम्भ करके नौ बजे तक डा० शुक्ला से परामर्श ले लिया जायेगा तथा दस बजे के अन्दर ही बच्चे को यूनिवरसिटीमें भर्ती कर दिया जायेगा। इसके पश्चात् करीब रात के ग्यारह बजे हम लोग अपने निवास-स्थान पर आ गये। आते वक्त यह चक्र : प्रसाद को हम लोग अपने साथ लेकर गये थे, थोड़ा सा बच्चे के मुख में डाल दिया, उसके ललाट और छाती पर लगा दिया और जो थोड़ा बचा था, बच्चे की माँ श्रीमती शारदा देवी को दे दिया गया, कि यदि रात में बच्चे की तबियत ज्यादे खराब हो तो श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का ध्यान करते हुये इसे बच्चे को दे दीजियेगा। हम लोग आते समय यह ढाढ़स भी बधाते आये कि घबड़ाने की कोई बात नहीं है, श्री प्रभुजी जो करेंगे, अच्छा ही करेंगे, आप लोग श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का स्मरण व चिन्तन बनाये रखिये। इतना कहकर हम लोग अपने निवास स्थान आये थे। यद्यपि हम लोग श्री पाण्डेय जी के परिवार को काफी उत्साह देकर आये, परन्तु रात में हम लोगों के अन्दर खुद ही यह विश्वास नहीं बन रहा था कि इतना बच्चा ठीक हो जायेगा। रात के निश्चित् कार्यक्रमानुसार प्रातः काल ठीक सात बजे हम उस चौराहे पर गये, जहाँ से यात्रा आरंभ करनी थी। करीब आधा घण्टे तक मैंने वहाँ प्रतीक्षा की। इसके बाद मन में अमंगल की बातें आने लगीं और मैं उदास मन से उनके निवास-स्थान गया। वहाँ जाकर हमने जो दृश्य देखा, वह बड़ा ही अलौकिक एवं अविश्वसनीय सा था। वह अबोध शिशु जिसकी मात्र आठ घण्टे पूर्व इतनी कारुणिक एवं दयनीय स्थिति थी, जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती, वही शिशु पलंग पर अपना हाथ-पैर फेंककर स्वच्छन्दता से खेल रहा था। परिवार के लोग जो ज्यादे रात तक जगे थे, सुबह विलम्ब से उठ पाये थे, श्री प्रभुजी तथा श्री महाप्रभु जी की विधिवत् आरती-पूजन करके प्रसाद वितरित कर रहे थे। उन लोगों ने बड़ी ही श्रद्धा एवं प्रसन्न भावातिरेक से हमें भी प्रसाद दिया। प्रसाद ग्रहण कर हमने प्रश्न किया कि भाई जी! हमने तो चौराहे पर करीब आधे घण्टे तक इन्तजार किया एवं उसके बाद यह विचार कर यहाँ आया कि कोई अमंगल सूचना ही सुनने को मिलेगी। परन्तु यहाँ कुछ और ही देख रहा हूँ, आप यह बतलाये कि यह बच्चा ठीक कैसे हो गया।

हमारी इतनी बात सुनकर उनके पिताजी अर्थात् अबोध शिशु के बाबा ने कहा कि अरे बेटा क्या बताऊँ। वे करुणानिधान श्री प्रभु जी बड़े ही दयालु हैं। इतना कहते-कहते

उनकी शक्ल पर आते-जाते उनकी आंखों से अश्रुपात होने लगा। फिर कुछ देर सम्भलकर उन्होंने बतलाना आरम्भ किया कि तुम लोग रज: प्रसाद देकर गये, उसके कुछ ही मिनट बाद यह बच्चा अपने आप सो गया, रात में एक बार भी नहीं रोया है। सुबह जब से उठा है, खेल रहा है। इतना कहने पर वे बार-बार यही कहते रहे कि श्री प्रभुजी बड़े ही दयालु हैं, बड़े ही कृपालु हैं। श्री प्रभुजी के प्रति उनके पवित्र भावों को देखकर मैं भी बार-बार आनन्द का अनुभव कर रहा था। इसके पश्चात् कुछ समय तक वहाँ प्रभु के पवित्र-चरित्रों का वर्णन किया गया, और मैं भी अपने निवास-स्थान पर आ गया।

इस प्रकार के एक नहीं अनेकों उदाहरण आपको अपने इस सिद्धयोग दरबार में मिल जायेंगे जिसमें रोगियों के कठिन रोगों का निवारण विलक्षण तरीके से अल्प समय में हुआ है। श्री प्रभुजी द्वारा प्रदत्त रज: प्रसाद के प्रभाव से। इस प्रकार की घटनाओं में रज: प्रसाद का प्रभाव कार्य करता है या अकारण दयालु श्री प्रभुजी की संकल्प शक्ति कार्य करती है, यह तथ्य तो हमारे सर्व समर्थ आराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान ही जानें। परन्तु एक बात अवश्य है कि श्री प्रभुजी द्वारा प्रदत्त रज: प्रसाद अपना अलौकिक प्रभाव देर-सवेर अवश्य ही दिखलाता है। श्री प्रभुजी प्रसाद के प्रभाव के सम्बन्ध में अपने सुधार-बिन्दु में एक तथ्य समझाते हैं, जिसको सभी पाठकों के लाभार्थ यहाँ लिख देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। श्री प्रभुजी अपने सुधार-बिन्दु में बतलाते हैं कि जो प्रसाद आह्लादित मन से शिष्य के किसी कार्य विशेष पर प्रसन्न होकर या उसकी दयनीय स्थिति पर द्रवीभूत होकर दिया जाता है, वह प्रसाद अवश्य ही तत्काल प्रभाव दिखलाता है तथा जो प्रसाद साधारण तरीके से दिया जाता है, वह उसकी तुलना में अपना प्रभाव कम दिखलाता है। वह अपना प्रभाव कब दिखलायेगा, यह भी निश्चित नहीं है। उस प्रसाद का प्रभाव शिष्य की अपनी श्रद्धा और साधना पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। अतः प्रभु जब प्रसन्न मुद्रा या आह्लाद में हों तभी प्रसाद के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। वैसे यह कार्य भी बड़ा ही कठिन एवं दुष्कर है, और बिना उनकी कृपा के यह पहचानना बड़ा ही मुश्किल है कि वे वास्तव में कब आह्लाद या प्रसन्न मुद्रा में हैं।

अन्त में आराध्यदेव के श्री चरणों में बारम्बार कोटिश: साष्टांग प्रणाम के साथ लेख को यहीं विश्राम देते हुए यह प्रार्थना है कि हम अबोध बालकों पर करुणा कृपा सदैव बनाये रखने की कृपा की जाय। लेख लिखते समय यह पंक्तियाँ बार-बार याद आ रही हैं:-

प्रभु! हम बेसहारों को,
अब तेरा सहारा है।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

❁ महाभारतीय सूक्ति संग्रह ❁

यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥

जो उत्पन्न हुए क्रोध को अक्रोध (क्षमाभाव) के द्वारा मन से निकाल देता है, समझ लो, उसने सम्पूर्ण जगत् को जीत लिया।

× × × ×

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥

जैसे सांप पुरानी कंचुल छोड़ता है, उसी प्रकार जो मनुष्य उभड़ने वाले क्रोध को यहाँ क्षमा द्वारा त्याग देता है, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा गया है।

× × × ×

यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥

जो क्रोध को रोक लेता है, निन्दा सह लेता है और दूसरे के सताने पर भी दुखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थों का सुदृढ़ पात्र है।

× × × ×

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः ।
न क्रुध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ॥

जो मनुष्य सौ वर्षों तक प्रत्येक मास में बिना किसी रुकावट के निरन्तर यज्ञ करता रहता है और दूसरा जो किसी पर भी क्रोध नहीं करता, उन दोनों में क्रोध न करने वाला ही श्रेष्ठ है।

क्रुद्धस्य निष्फलान्येव दानयज्ञतपांसि च ।
तस्मादक्रोधने यज्ञस्तपो दानं महाफलम् ॥
न पूतो न तपस्वी च न यज्वा न च कर्मवित् ।
क्रोधस्य यो वशं गच्छेत् तस्य लोकद्वयं न च ॥
पुत्रभृत्यसुहृन्मित्रभार्या धर्मश्च सत्यता ।
तस्यैतान्यपयास्यन्ति क्रोधशीलस्य निश्चितम् ॥
यत् कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः ।
न तत् प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ॥

क्रोधी के यज्ञ, दान और तप सभी निष्फल होते हैं। अतः जो क्रोध नहीं करता, उसी पुरुष के यज्ञ, तप और दान महान् फल देने वाले होते हैं। जो क्रोध के वशीभूत हो जाता है, वह कभी पवित्र नहीं होता तथा तपस्या भी नहीं कर सकता। उसके द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है और वह कर्म के रहस्य को भी नहीं जानता। इतना ही नहीं, उसके लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जो स्वभाव से ही क्रोधी है, उसके पुत्र, भृत्य, सुहृद्, मित्र, पत्नी, धर्म और सत्य—ये सभी निश्चय ही उसे छोड़कर दूर चले जायेंगे। अबोध बालक और बालिकाएँ अज्ञानवश आपस में जो वैर-विरोध करते हैं, उसका अनुकरण समझदार मनुष्यों को नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे नादान बालक दूसरों के बलाबल को नहीं जानते।

× × × ×

पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ॥

जो पुरुष दूसरों के सदाचार और कुल की निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचार वाले मनुष्यों में कल्याण की इच्छा वाले विद्वान् पुरुष को नहीं रहना चाहिये।

× × × ×

ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाभिजनेन वा ।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते ॥

जो लोग आचार, व्यवहार अथवा कुलीनता की प्रशंसा करते हों, उन साधु पुरुषों में ही निवास करना चाहिये और वही निवास श्रेष्ठ कहा जाता है। ✿✿

संग्रहणीय कृति !!   अभिनव प्रकाशन !!

श्री योग महा दिव्य रामायण

'सिद्ध योग' के पाठकों को मुझे यह सूचित करते हुए परम प्रसन्नता हो रही है कि प्रिय श्री चमनलाल कपूर ने, जो हमारे आश्रम के अभिन्न अंग हैं हाल ही में 'श्री योग महा दिव्य रामायण' नामक एक काव्यमय ग्रंथ तय्यार किया है। यह ग्रन्थ [illegible] खण्डों में है और प्रत्येक खण्ड सजिल्द रूपमें प्रकाशित किया गया है। इस ग्रंथ में आनन्दकन्द प्रभुजी की विविध चरित्र गाथाओं को दोहा-चौपाई जैसे सरल और बोधगम्य छन्दों में वर्णित किया गया है। साथ ही अन्य भक्तों के चरित्रों का भी संकलन इसमें यथास्थान किया गया है। छपाई-सफाई भी सुन्दर और सुपाठ्य है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन योग-साधन आश्रम, माडल टाउन होशियारपुर (पंजाब) से हुआ है, तथा वहीं से श्री चमनलाल कपूर से सम्पर्क करने पर प्राप्त हो सकता है। यह प्रकाशन संग्रहणीय एवं पठनीय है। हम इस पठनीय अभिनव प्रकाशन के लिए प्रिय श्री चमनलाल कपूर के प्रयास की भूरि-भूरि सराहना करते हैं।

—चन्द्रमोहन (योगिराज)

श्री सिद्धगुफा-योग प्रशिक्षण केन्द्र समाई, एत्मादपुर आगरा।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 May, 1986

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, ककुआ (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....

....

....

....

श्वास-प्रश्वास और उसकी आपूर्ति

यदि वैज्ञानिक श्वास मात्रा नापने के यन्त्र से श्वास मात्रा नापी जाय तो मालूम होगा कि प्रत्येक मनुष्य जिस मात्रा में श्वास लेता है उससे कुछ अधिक मात्रा में प्रश्वास बाहर जाता है। संतुलित भोजन जो मनुष्य खाता है उससे केवल शरीर पुष्ट होता है पर वह श्वास-प्रश्वास में जो घटी होती है उसकी पूर्ति उस प्राण और रयि तथा सूक्ष्म शरीर प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य शरीर के मनोमय कोष से कुछ बाहर निकल कर आकाशीय शक्ति से अपनी घटी पूर्ति करता है। डाक्टर ब्रामर्स ने भी उपर्युक्त घटी पूर्ति सिद्ध किया है। इसी लिए बृहदारण्यक उपनिषद् में उपदेश दिया है कि प्रगाढ़ निद्रा वाले पुरुष को झटका देकर मत जगाओ।

मुद्रक—केदारनाथ शर्मा 'दिनेश' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई [illegible], ताजगंज, आगरा-१ फोन ६२१६८